# सप्तम अध्याय

# सामाजिक परिवर्तन बनाम स्त्री की बदलती रूढ़ छवि

7.1 नये नेतृत्व की तलाश

7.2 नारी की भूमिका में परिवर्तन

7.3 परम्परागत संस्कारों एवं बन्धनों से मुक्ति का प्रयास

7.4 परम्परागत मूल्यों में परिवर्तन का आग्रह

7.5 स्त्रीत्व बनाम मातृत्व

7.6 शक्ति एवं ऊर्जा का रूप नारी

# सप्तम अध्याय

## सामाजिक परिवर्तन बनाम स्त्री की बदलती रूढ़ छवि

परिवर्तन मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है और परिवर्तनशीलता समाज का अनिवार्य नियम। इसलिए मानव इतिहास में आज तक किसी ऐसे समाज का परिचय नहीं मिलता जो एक निश्चित सामाजिक ढाँचे को लम्बे समय तक स्थिर रख सका हो। समाज के प्रादुर्भाव से अब तक समाज के रीति–रिवाज, परम्पराएँ, रहन–सहन की विधियाँ, पारिवारिक और व्यावहारिक व्यवस्थाएँ आदि अनेक बार परिवर्तित हो चुकी हैं। इसीलिए कहा जाता है, ''जीवन के स्वीकृत ढंग में जब अंतर आने लगे, तो सामाजिक परिवर्तन हो जाता है, चाहे ये अंतर भौगोलिक दशाओं में परिवर्तन के कारण आये, चाहे सांस्कृतिक साधनों, आबादी की रचना व विचारधाराओं में परिवर्तन के कारण, जिनका सूत्रपात उसी जन–समूह ने स्वयं किया हो या कहीं अन्यत्र से लिया हो।''[1]

सामाजिक परिवर्तन सर्वव्यापी नियम है। पाश्चात्य समाजशास्त्री जेन्सन का मत है, ''व्यक्तियों के कार्य करने और विचार करने के ढंगों में होने वाले रूपान्तरण को सामाजिक परिवर्तन के रूप में पारिभाषित किया जा सकता है।''[2] यह सत्य है कि वास्तविक जीवन में सामाजिक परिवर्तन में वैचारिकी निहित होती है और इसीलिए सामाजिक परिवर्तन गैर–वैज्ञानिक होता है। इसमें नैतिकता एवं उद्विकास समाहित होता है।

परिवर्तन एक व्यापक प्रक्रिया है। आधुनिकीकरण ने सर्वत्र बदलाव को जन्म दिया है। इससे प्रकृति के नियम यदि खंडित हुए हैं तो निर्माण भी हुआ है। इसने व्यक्ति के लिए नयी–नयी सुविधाओं से युक्त संसार का निर्माण किया है। भारतीय समाज में भी अनेक परिवर्तन उभरकर सामने आये हैं। जिससे नवचेतना का संचार हुआ है। नये युग का शुभारम्भ हुआ है। नये युग के सुप्रवेश से नारी ने भी करवट ली है। उसके दृष्टिकोण में धीरे–धीरे परिवर्तन की बयार बह रही है। नयी शताब्दी

---

1 गंभीर, उर्मिला, प्रतापनारायण श्रीवास्तव के उपन्यासों का समाजशास्त्रीय अध्ययन, आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली, सन्–1972, पृ० सं०–47

2 शर्मा, सुरजन सिंह, सामाजिक परिवर्तन, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, सन्–2007, पृ०सं०–48

उसी की है, उसी के द्वारा संचालित हो रही है। वह समय के मूल में है और नवीन संभावनाओं की जननी है। अब उसकी सुन्दरता की परिभाषा मात्र उसका शारीरिक सौन्दर्य नहीं है अपितु वह स्वयं को श्रम कणों से टपकती बूँदों से पारिभाषित कर रही है।

आज नारी के एकल रूप में शतशः दूसरे रूप इस तरह से जुड़ रहे हैं कि पुरुष समाज भौंचक्का–सा हो गया है, वह नैतिकता, वर्चस्व एवं मर्यादा के प्रश्न पर अंगुली उठाने लगी है। पहले स्त्री घर–परिवार की समस्याओं को सुलझाने तक ही सीमित थी परन्तु अब वह राष्ट्रीय, अन्तरराष्ट्रीय स्तर के प्रश्नों के उत्तर ढूँढने लगी है।

देश की आधी आबादी जो पहले अज्ञानता, धनाभाव, कानूनी संरक्षण की कमी तथा सामाजिक–धार्मिक बंदिशों में जकड़ी हुई थी, अब परिवर्तन के कारण स्वातन्त्रोन्मुख होने लगी है। आजादी के पश्चात् हमारे समाज में राष्ट्रीय स्तर पर महिलाओं की स्थिति में तेजी से सुधार हुआ। अनेक समाजशास्त्रीयों ने इस दिशा में सार्थक प्रयास किये तथा साहित्यकारों ने भी नारी विषयक सरोकारों को अपने सृजन का आधार बना कर उन्हें समाज तक संप्रेषित करने का यत्न किया है। स्त्री–विमर्शकार मृणाल पाण्डे नारी–चिन्तन को अपने लेखन के केन्द्र में मानने का कारण बताते हुए लिखती हैं, ''अकसर हितैषीगण और मित्र मुझसे कहते हैं, कि अपनी लेखनी और शोध का विषय प्रायः स्त्रियों की स्थिति और समस्याओं तक ही सीमित रखकर मैं अपने लेखन और शोध, दोनों ही क्षेत्रों के साथ अन्याय कर रही हूँ। इन सुधीजनों को यह सहज–सी बात न जाने क्यों नज़र नहीं आती, कि स्त्रियों की स्थिति, समस्याओं और उनके हितों की नाल तो हमेशा से सीधे और बड़े स्पष्ट रूप में पूरे मानव–जगत् और उसके कार्य–व्यापारों के मूल से जुड़ी हुई है। स्त्रियाँ और उनकी समस्याएँ किसी और लोक की या चिन्तन–जगत् की उपज नहीं है। और चूँकि दुनिया–भर में सर्वहारा–वर्ग का, अधिकांश हिस्सा स्त्रियों और बच्चों का ही है, अतः उसकी परख किये बिना विश्व में राजनीतिक, आर्थिक या समाजशास्त्रीय किसी भी क्षेत्र के असंतुलन और विषमताओं का ब्यौरा नहीं बिठाया जा सकेगा। मैं ही नहीं, किसी भी ऐसे लेखक या लेखिका के लिए, जो किसी भी देश और समाज

की राजनीति, अर्थशास्त्र, कला अथवा सामाजिक ढाँचे को समझना–समझाना चाहे, स्त्रियों की इस विशाल दुनिया से सीधा और ईमानदार साक्षात्कार करना एक अनिवार्य और पहली शर्त है।''[1] इस प्रकार से लेखिका ने यह स्पष्ट किया है कि स्त्री समाज की मुख्य धारा में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। साहित्य के सामाजिक सरोकारों की दृष्टि से स्त्री–विमर्श महत्त्वपूर्ण आयाम माना जा सकता है, यह स्त्री सत्ता के अधिकारों के प्रति संवेदना के संदर्भों की तलाश करता है तथा उन्हें वैचारिक मंच प्रदान करता है।

मृणाल पाण्डे ने अपने लेखन में बौद्धिक वर्ग की महिला से लेकर आम अशिक्षित गृहिणी तक को शामिल किया है। उनकी रचनाओं में प्रधान पात्र के रूप में स्त्री ही है, जो कभी समाज की विड़म्बनाओं से टकराती है और कभी अपने अस्तित्व के प्रश्न को खोजती हुई पुरुष–प्रधान भारतीय समाज से दो–चार होती दिखाई देती है। उनके स्त्री–पात्र आत्मविश्वास की शक्ति से पूर्ण हैं, वे न टूटते हैं, और न ही हार मानते हैं। अतः सामाजिक परिवर्तन के कारण स्त्री की बदलती रूढ़ छवि को लेखिका के कथा–साहित्य में निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत विश्लेषित किया जा सकता है–

### 7.1 नये नेतृत्व की तलाश

स्त्री अपने अस्तित्व को लेकर सदैव उपेक्षित रही है किन्तु वर्तमान के दूषित, अवसरवादी एवं जटिल परिवेश ने उसके समक्ष और भी समस्याएँ पैदा कर दी हैं, जिससे उसका जीवन संघर्ष उलझ गया है। समाज और परिवार की यथास्थितिवादी शक्तियाँ शहरों से लेकर गाँवों तक के गली–मुहल्लों, सरकारी और गैर–सरकारी दफतरों में मौजूद हैं, जो महिलाओं की आकांक्षाओं एवं महत्त्वाकांक्षाओं को अपनी ठोकरों से रौंद डालना चाहती हैं। औरत न तो उनके खिलाफ विद्रोह कर पा रही है और न ही उनकी सोच को आत्मसात्।

समाज में स्त्री को अति महत्त्वपूर्ण इकाई के रूप में देखा जाता है। लेकिन, वास्तविक तस्वीर देखें तो उसमें स्याह रंग अधिक नजर आते हैं। मैत्रेयी पुष्पा के

---

1 पाण्डे, मृणाल, स्त्री : देह की राजनीति से देश की राजनीति तक, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–1987, भूमिका से उद्धृत

विचारानुसार, ''पुरुष के मन में आज भी ऐसी स्त्री प्राप्त करने की ललक है, जिसे वह सेवा वफादारी और पारिवारिक उपयोगिता के लिए रोटी–कपड़ा देकर घर में डाल ले। अपने नाम गोत्र और जाति का बिल्ला पहनाकर सजाए। और कहे, तुम प्रकृति रूपा हो। मानव जाति के प्रजनन के लिए उत्तम माध्यम। 'सुन्दर सम्पत्ति' के रूप में गृहलक्ष्मी।''[1] पितृसत्तात्मक व्यवस्था स्त्री को शक्तिहीन बनाकर पुरुष को शक्तिशाली बनाने का श्रेष्ठ उपक्रम है। स्त्री को कमजोर करने की यह प्रक्रिया अत्यन्त सूक्ष्म एवं जटिल है।

स्त्री की स्वतन्त्रता को पुरुष समाज द्वारा सदा प्रतिबन्धित किया गया है। फलतः लेखिका मृणाल पाण्डे ने नारी विमर्शकों के समक्ष यह इच्छा रखी है कि, ''स्त्री के अस्तित्व को, उसके पुरुष से जुड़े सम्बन्धों तक ही सीमित करके न देखा जाये, बल्कि पुरुष की ही तरह उसे भी मानवता का एक भिन्न तथा अनिवार्य और पूरक तत्त्व माना जाये। और जन्मजात उसे अनुचरी नहीं, सच्चे अर्थों में सहचरी के रूप में प्रेरित, पारिभाषित और प्रोत्साहित किया जाये।''[2] स्त्री भी गरिमामय जीवन जीने की हकदार है। दरअसल 'गरिमा से जीना' पंख पसारकर उड़ने सरीखा है, जहाँ वह जैसा जीवन चाहती है, उसे मिल सके। परन्तु इसके विपरीत की परिस्थितियाँ स्त्री–मन में खिन्नता एवं विद्रोह का भाव उत्पन्न करती हैं। सामाजिक मानसिकता को परिवर्तित करना ही होगा, इसी विचारधारा के साथ ही आरम्भ हो जाती है एक 'नये नेतृत्व की तलाश'। नवीन नेतृत्व किसी क्षेत्र विशेष में ही हो ऐसा नहीं है। सामाजिक परिवेश में जहाँ कहीं भी स्त्री असन्तुष्ट अथवा अपनी आकांक्षाओं को खण्डित होते देखती है वहीं नेतृत्व की आवश्यकता महसूस करने लगती है।

स्त्री–विमर्शक मृणाल पाण्डे के कथा–साहित्य के स्त्री–पात्र भी 'नये नेतृत्व की तलाश' करते दिखाई देते हैं। नेतृत्व किसी अन्य व्यक्ति की अगुवाई में हो, वे यह स्वीकार नहीं करते अपितु वे स्वयं ही इस नये नेतृत्व को आकार देने के लिए संघर्ष हेतु तत्पर हो जाते हैं।

---

1 पुष्पा, मैत्रेयी, सुनो मालिक सुनो, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सन्–2006, पृ०सं०–89

2 पाण्डे, मृणाल, स्त्री : देह की राजनीति से देश की राजनीति तक, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–1987, पृ०सं०–21

यह सत्य है कि औरतों के विषय में व्यापक एवं विस्तृत चर्चा अतीत में कम ही की गई है। इतिहास में भी पुरुष आनुवांशिक प्रथा की ही कहानी है, मातृवंश की नहीं। वर्जीनिया वुल्फ के शब्दों में, ''पिताओं के बारे में हम जानते हैं कि वे सैनिक थे या जहाजी या अमुक ओहदे पर विराजित थे वगैरह, लेकिन हमारी माँओं या नानी–दादियों के बारे में उपलब्ध जानकारियाँ क्या हैं? बस यही कि उनके नाम क्या थे, उनकी शादियाँ कब किन खानदानों के कौन–से पुरुषों से हुईं और उन्होंने कितने बच्चे पैदा किए.....।''[1] प्रायः भारतीय समाज में स्त्री को कीमती धरोहर और गुडियानुमा लड़की ही समझा और बनाया जाता रहा है। उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को सामाजिक जीवन में विशेष महत्त्व नहीं दिया गया। कई बार स्त्री इस स्थिति को सहजता से अपनी 'नियति' मानकर स्वीकार कर लेती है, किन्तु मृणाल पाण्डे के उपन्यास 'विरुद्ध' की रजनी ऐसा नहीं कर पाती। उसकी यही पीड़ा है कि अन्ततः ऐसी भी क्या विवशता है कि समाज एवं घर–परिवार में स्त्री की प्रत्येक छोटी से छोटी आकांक्षा को पुरुष से पारित करवाना आवश्यक माना जाता है? क्यों नहीं स्त्री स्वयं अपने निर्णय लेने के लिए पुरुष की भाँति स्वतन्त्र हो पाती? उसके विचार में ऐसा जीवन उसे व्यक्तित्वहीन बना देगा। रजनी के शब्दों में, ''पर फिर क्या उसकी सारी जिन्दगी दूसरों के फतवे ही स्वीकार करने की प्रक्रिया भर बनकर नहीं रह जाएगी? क्या इसी सिर–झुकाऊ विनम्रता ने उसकी माँ के व्यक्तित्व को कुतरकर बौना नहीं बना डाला है? खाओ तो, पहनो तो दूसरों की पसन्द का। दोस्त भी बनाओ तो दूसरों की पसन्द के।''[2] अतः रजनी परमुखापेक्षी नहीं बनना चाहती अपितु स्वयं अपने स्तर पर संघर्ष करना चाहती है। वह यह समझ चुकी है कि जिस समता के सिद्धान्त को वह मूर्त रूप में क्रियान्वित होते देखना चाहती है उसके लिए उसे प्रयास स्वयं ही करना होगा, ''वह कितनी ही दूर भागे निर्णय उसे ही लेना होगा–अभी तक अपने बारे में किये जाते उन सब सुव्यवस्थित–समझदार घरेलू निर्णयों से परे, जो गर्म खाने की रकाबी की तरह हमेशा उसके आगे परोस दिये गये हैं। वह या तो बहुत अपरिपक्व रही होगी या फिर बहुत ही बेवकूफ, जो

---

1 उद्धृत, पाण्डे मृणाल, जहाँ औरतें गढ़ी जाती हैं, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–2006, पृ०सं०–56

2 पाण्डे, मृणाल, विरुद्ध, सरस्वती विहार, नई दिल्ली, सन्–1977, पृ०सं०–46

यह समझती रही थी कि इस सब पर उसका कुदरती हक है। नहीं है। किसी भी चीज पर किसी का भी हक नहीं है। यहाँ हर चीज का मोल चुकाना पड़ता है। उसे भी तो चुकाना पड़ा था, नहीं? उस उपेक्षाहीन भक्ति की दासता, उस दमघोंट मर्यादा से भरे अपने कल्पनाहीन घटनाहीन बचपन के रूप में, जिसमें कहीं भी कुछ भी ऐसा नहीं था जिस पर टिप्प से अँगुली रखकर वह यह कह सके कि हाँ यह मैं हूँ, यह मेरा है– एकदम।''[1]

मृणाल पाण्डे की रचनाओं में महिला–पात्र किसी–न–किसी रूप में सकारात्मक बदलाव अपने परिवेश में चाहते हैं क्योंकि सभी के समक्ष विड़म्बनाएँ उपस्थित हैं, उन विड़म्बनाओं में वे नवीन नेतृत्व की खोज हेतु एकजुट होकर संघर्ष करते दिखाई देते हैं। उपन्यास 'देवी : समयातीत गाथाएँ स्त्रियों की' में इसी प्रकार का परिवेश अंकित किया गया है जिसमें यह स्पष्ट किया गया है कि जब स्त्री के अस्तित्व को खतरा उत्पन्न होता है तो सब एक साथ उसका प्रतिरोध करती हैं ताकि उन्हें सामाजिक स्तर पर न्याय मिल सके। इसके लिए वे राजनीतिक सत्ताधारियों की रणनीतियों को भी ढेर करने पर उद्यत हो जाती हैं। लेखिका के अनुसार, ''मौसम का पारा नीचे लुढ़कता जा रहा है लेकिन उत्तराखण्ड़ी औरतें दिन–दिन और रात–रात–भर पुलिसिया अत्याचारों के विरुद्ध धरनों पर बैठी हैं। उन्होंने तमाम स्कूलों, दफ्तरों और कलेक्टर की कचहरी पर ताले ठोक दिए हैं। वे राज्य की पुलिस द्वारा गोलीबारी, लाठी की मार और स्थानीय स्त्रियों पर बलात्कार को मूक या मुखर माफ़ी दिए जाने की कायल नहीं हैं। वे न्याय माँगती हैं, इससे कम कुछ नहीं!... 'जो डरता है वो जाके अपनी जोरू की घघरी पहन ले', पहाड़ी औरतें कहती हैं।... शैलपुत्री की अनुगामिनियों के कोप का काला बादल उत्तराखंड़ के आठ ज़िलों के आकाश पर घना होने लगा है, रिपोर्टर गले साफ़ करते हैं, संपादक चश्मों के काँच। भय–पुरुषों का भय, खुली सड़कों का भय, अँधेरे खेतों का भय, पुलिस का भय, सीबीआई का भय, पीएसी का भय– सब बेमतलब हो उठे हैं। किसी का कोई अर्थ नहीं बचा। औरतों का गुस्सा ताज़े अख़बारी काग़ज़ की तरह

1 पाण्डे, मृणाल, विरुद्ध, सरस्वती विहार, नई दिल्ली, सन्–1977, पृ०सं०–130

फड़फड़ाता है।''[1] इस प्रकार से एक क्षेत्र से आरम्भ हुई यह तलाश अन्य महिलाओं को भी प्रेरित करती है कि वे विकृत व्यवस्था का विरोध कर अपनी ताकत का अहसास समाज को करवायें क्योंकि वे भी मानुषी हैं, उनका भी वजूद है।

समाज में स्त्री के प्रति संकीर्ण दृष्टिकोण में परिवर्तन की कामना लेखिका ने 'हमका दियो परदेस' उपन्यास में भी की है। टीनू बाल्यकाल में ही यह समझ जाती है कि घर–परिवार में लड़की भार स्वरूप ही है। टीनू परिवार में वही स्थान प्राप्त करना चाहती है जो बेटों को दिया जाता है, इसीलिए जब उसके घर में भाई का जन्म होता है तो वह तनिक भी प्रसन्न नहीं होती अपितु वह अपना बाल विरोध प्रकट करती है, ''खुशखबरी! खुशखबरी!' मैं और दीनू समझ जाते हैं कि हमारा भैया आ गया। 1954 के सितम्बर की पहली तारीख है। दीनू और अनु हाथ पकड़कर, हँसते हुए मुझसे आगे भाग जाते हैं। मैं रुक जाती हूँ। जो भी हमारा इन्तजार कर रहा है, उसके लिए मेरे मन में कोई खास हवस नहीं है। उससे मिलने को लालायित होने का कोई तुक नहीं।''[2] अतः एक नन्हीं बच्ची का यह आक्रोशित व्यवहार कहीं–न–कहीं यही संवेदना समेटे हुए है कि बेटी और बेटे के बीच का पक्षपाती रवैया बदलना चाहिए। क्योंकि यह समाज एवं राष्ट्र के लिए हितकर नहीं है। उपन्यास में अनेक स्थलों पर टीनू यह संकेत देती है कि इस परिवर्तन के लिए स्वयं को ही क्रियाशील बनना होगा। वह अपनी बात को भावनाओं के आधार पर नहीं बल्कि ठोस तार्किक ढंग से अभिव्यक्त करती है।

स्वार्थ सिद्धि के लिए मानवता होम नहीं की जानी चाहिए लेकिन यह तब तक सम्भव नहीं है जब तक ठोस नेतृत्व नहीं होता। मृणाल पाण्डे ने इसी विचार के आधार पर उपन्यास 'रास्तों पर भटकते हुए' में अपरोक्ष रूप से ही सही पत्रकारिता के सरोकारों की गंभीर पड़ताल की है, इस क्षेत्र में स्त्री–पत्रकार की निरन्तर कठिन होती भूमिका को भी समझने–समझाने की कोशिश भी की गई है। बंटी की मौत पर सत्य का संवाहक अखबार कुछ भी नहीं लिखता, ''सुना कहीं बंटी की अकाल मृत्यु के बारे में छपी थी खबर! पर मैं जानती थी, कि उसका नाम–पता

---

1 पाण्डे, मृणाल, देवी : समयातीत गाथाएँ स्त्रियों की, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–1999, पृ०सं० 28–29

2 पाण्डे, मृणाल, हमका दियो परदेस, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–2001, पृ०सं०–83

सही नहीं छपेगा। चुनाव अभी खत्म हुए थे और अखबार राजनैतिक घोटालों, पार्टी जोड़–तोड़ और जाँच एजेंसियों पर जाँचें बिठाई जाने की सनसनी से गनगना रहे थे। एक सातेक बरस के गरीब पहाड़ी बच्चे का मरना ऐसे में कोई बड़ी खबर कहाँ से बनता? पर अखबारों में बरसों रह चुकने के बाद, यह बात भली तरह जानने के बाद, बंटी की माँ की भावशून्यता और उसके शरीर को लेकर विद्युत–दाहघर जाने वालों की मुट्ठी–भर तादाद देखने के बाद भी, कुछ देर को उस जगत् की निर्ममता ने मुझे कुछ हतप्रभ कर ही दिया, जिसकी कभी मैं मुखर सदस्य थी।''[1] अतः पत्रकारिता का ऐसा भेदभावपूर्ण रवैया, जिसमें संवेदना का अभाव ही दिखाई देता है, यह मंजरी के मन को उद्वेलित करता है। इस प्रकार से पत्रकारिता जगत् में भी लेखिका ने एक नये नेतृत्व की तलाश की है जिससे पत्रकारिता को विड़म्बनाओं से मुक्ति मिल सके तथा वह अपना मूल धर्म निभा सके। ऐसे ही संदर्भ उन्होंने उपन्यास 'अपनी गवाही' में भी प्रस्तुत किये हैं। जिसमें पत्रकार कृष्णा बार–बार पत्रकारिता के जटिल–तंत्र से टकराती है। कृष्णा का सहयोगी जेपी भी इस परिपाटी में परिवर्तन लाना चाहता था। वह कृष्णा को बताता है कि पत्रकारिता जगत् ढपोलशंखी एवं चापलूसी से भरा हुआ है। वह जिस दिन संपादक बन जायेगा तभी से वह भ्रष्ट सम्पादकों को सुधारने का प्रयास अवश्य करेगा। पत्रकारिता के पेशे में कृष्णा स्त्री एवं पुरुष सम्पादक के अन्तर से भी परिचित होती है। अखबार में काम करते–करते कृष्णा भी सम्पादक पद पर पहुँच जाती है। सम्पादक बनने पर उसके बैठने की जो व्यवस्था की जाती है, उसी से ही महिला पत्रकारों की स्थिति का आभास स्वतः ही हो जाता है। ''उसी पुरानी मेज के पीछे सम्पादक की नई और भारी–भरकम कुर्सी रखी गई। सबकी निगाहें कृष्णा पर थीं पर वह प्रसन्न नहीं थी। कुर्सी कुछ ज्यादा ही भारी–भरकम थी और सिर टिकाने के लिए बना पीछे का हिस्सा इतना ऊँचा था कि वह उसमें छुप जाती थी। जब उसने यह कमी बताई तो उसे कहा गया कि सम्पादक की कुर्सी तो मर्दों के सामान्य आकार के हिसाब से ही बनाई जाती है।''[2] इस प्रकार से एक महिला का

---

1 पाण्डे, मृणाल, रास्तों पर भटकते हुए, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–2000, पृ० सं०–59

2 पाण्डे, मृणाल, अपनी गवाही, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–2003, पृ० सं०–43

पत्रकारिता में प्रवेश करना उसके पुरुष सहकर्मियों के लिए सह पाना कठिन हो जाता है। यह सत्य जहाँ एक ओर कृष्णा के भीतर असंतोष पैदा करता है वहीं उसमें आत्मविश्वास को दृढ़ता भी प्रदान करता है। अतः एक नये क्षितिज की खोज एवं बदलाव की आकांक्षा इस उपन्यास के माध्यम से अभिव्यक्ति हुई है।

लेखिका की कहानी 'यानी कि एक बात थी' की नायिका भी नये आकाश को तलाशती प्रतीत होती है। कहानी में पति येन–केन–प्रकरेण अपनी पत्नी को उसके स्त्रीत्व का आभास दिलाकर उससे पुरुष प्रधान समाज में उसकी हाशिए की स्थिति को स्वीकृत कराना चाहता है। उसके इन सामन्ती विचारों से पत्नी के मन में वैचारिक हलचल पैदा हो जाती है, ''पुरुषों की पंगत में हरदम एक दर्जा नीचे बैठने की तकलीफ पतली फाँस की तरह एक चीख बनकर भीतर गड़ गयी है। न निकलती है, न दिखती है। पर है। इसे निकालो! इसे निकालो! मेरा पूरा भीतरी बियावान गूँज रहा है।''[1] अतः 'निकालो' शब्द नवीन नेतृत्व को पुकार रहा है ताकि वह अपनी दोयम दर्जे की स्थिति से मुक्त हो सके।

मृणाल पाण्डे ने यह स्वीकार किया है कि, ''जीवन भर शोर–शराबे और दूसरों की शर्तों–सेवा में जीवन जी चुकी औसत महिला को एकान्त और शान्ति चैन नहीं देती, डराती है। एकान्त मिल भी जाए तो क्या? का बरखा जब कृषि सुखानी।''[2] अतः सामाजिक उपेक्षा ने स्त्री के भीतर विरोध अथवा आक्रोश के भाव को भर दिया तथा यही भाव नये नेतृत्व की कामना करता है जिसे लेखिका ने अपने कथा–साहित्य में प्रस्तुत किया है।

## 7.2 नारी की भूमिका में परिवर्तन

आधुनिक समाज परिवर्तन के दौर में है। जिसका सर्वाधिक प्रभाव नारी–जीवन में दिखाई देता है। भारतीय नारी परम्पराओं एवं सांस्कृतिक मान्यताओं से कटकर एक नवीन जमीन पर अपना व्यक्तित्व कायम करने की चेष्टा में रत है। वह दृढ़ता एवं आत्मविश्वास के साथ निरन्तर आगे बढ़ रही है। ''स्त्री की आजादी

---

1 पाण्डे, मृणाल, यानी कि एक बात थी, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–1990, पृ०सं०–252

2 पाण्डे, मृणाल, ध्वनियों के आलोक में स्त्री, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–2015, पृ० सं०–8

को, उसके बाहर आने को पुरुष ने अपनी तरह से भुनाया है। स्त्री ने बावजूद सारी छेड़छाड़, यौन–शोषण, उत्पीड़न, बाजार में अपने उपयोग के, अपने लिए पैर जमाने लायक जमीन तलाश ही ली है।''[1]

स्त्रियों की स्थिति पर दृष्टिपात करें तो सबसे अधिक शोषण एवं प्रताड़ना का शिकार कोई हुआ है, तो वह है–स्त्री। मर्यादा, चरित्र, कर्त्तव्यपरायण, त्याग, सहनशीलता, शील तथा अन्य दैवी गुणों से महिमामंडित कर जिस सुंदर ढंग से पुरुष समाज ने उसे छला है उसमें स्वयं स्त्री तक को भी यह आभास नहीं हुआ कि उसका शोषण हो रहा है। पुरुषों के समान ही मानसिक शक्ति की धनी स्त्री मनुष्ययोनि में जन्म लेकर भी देवी तो बन गई किन्तु पूर्ण मनुष्यत्व प्राप्त करने में असफल रही। परिवार को बाँधने में सफल रही किंतु पुरुष की अर्द्धांगिनी बन वह समाज में गौण ही रही। वह पुरुषों के कार्यों को सम्पादित करने वाली मशीन तो हो गई परन्तु निर्णय लेने की स्थिति में उसकी भूमिका महत्त्वहीन रही। घर की चारदीवारी को ही उसका कार्यक्षेत्र मान लिया। परन्तु आज परिस्थितियाँ भिन्न हैं। सामाजिक जीवन में स्त्री की उपयोगिता बढ़ रही है, कई जगह वह पुरुषों के बराबर है तो कहीं उनसे आगे। वह पुरुष के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलने का साहस कर पा रही है। डॉ० युसूफ अली शेख के कथनानुसार, ''मनुष्य की परम्परा को सुरक्षित रखने में स्त्री की केन्द्रीय भूमिका होने के बावजूद पुरुष आज भी समाज के केन्द्र में और स्त्री परिधि में है। आज नारी अपने भाग्य पर रोती नहीं है, आज वह तनकर खड़ी हो गयी है।''[2] इस नवयुग की स्त्री का नया रूप बनने से आज का पुरुष रोक नहीं पा रहा है।

डॉ० अमर ज्योति के अनुसार, ''महिलाएँ अब किसी भी अर्थ में पुरुषों से दोयम दर्जे की स्थिति में नहीं दिखाई देतीं। पुरुष के समान आत्मनिर्भर रहना अब उनकी महत्त्वाकांक्षा है।''[3] आधुनिक समाज में स्त्री अपनी पकड़ मजबूत कर रही है।

---

1 जैन, अरविन्द, मंडलोई, लीलाधर, स्त्री : मुक्ति का सपना, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सन्–2004, पृ० सं०–112

2 जैन, सुरेश कुमार (डॉ०), उत्तरशती का हिन्दी साहित्य, अन्नपूर्णा प्रकाशन, कानपुर, सन्–2005, पृ०सं०–86

3 ज्योति, अमर (डॉ०), महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में नारी दृष्टि, अन्नपूर्णा प्रकाशन, कानपुर, सन्–1999, पृ०सं०–46

उसके अथक् प्रयास के फलस्वरूप ही, ''भारतीय आदर्शों में रची–बसी सती नारी के स्थान पर उस नारी का चेहरा सामने आया जिसे अपनी महत्ता और अस्मिता पर गर्व था।''[1] प्रसिद्ध कथाकार मृणाल पाण्डे भी नारी की परिवर्तित भूमिका को स्वीकार करते हुए लिखती हैं, ''भारतीय स्त्रियों की आन्तरिक और बाहरी दुनिया में पिछले पचास साल में जबर्दस्त आलोड़न हुए हैं। गाँव–शहर–महानगर, हर जगह स्त्रियों के जीवन में राजनीति, अर्थनीति और सम्प्रेषण–संचार की नई प्रौद्योगिकी के असर से गहरे बदलाव आए हैं और आ रहे हैं।''[2]

मृणाल पाण्डे स्त्री सबलीकरण की पक्षधर हैं, जिसका उद्घाटन उनके कथा–साहित्य में भी हुआ है। उन्होंने अपनी रचनाओं में स्त्री के अबलाकरण के रहस्यों को खोलकर स्त्री सबलीकरण का मार्ग सुझाया है। दिन–प्रतिदिन नारी की परिवर्तित भूमिका उनके कथ्य के मुख्य सरोकार हैं। इसके लिए उन्होंने ठोस आँकड़ों एवं तथ्यों, घटनाओं, राजनीतिक परिदृश्य को आधार बनाया है। सुधीर पचौरी मृणाल पाण्डे के संदर्भ में लिखते हैं, ''उन्होंने स्त्री की समस्याओं को उसके कर्म, श्रम, भूमिका और सामाजिक सम्बन्धों से जोड़ा है। उनके लिए स्त्री–प्रश्न एक साथ ही ठोस आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक प्रश्न हैं।''[3] मृणाल पाण्डे ने स्त्री की आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक भूमिका को राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय पैमाने से नापा है।

लेखिका द्वारा रचित कथा–साहित्य में नारी पात्र पर्याप्त जागरूक बनकर सामने आते हैं। संभवतः इसके माध्यम से लेखिका ने यही दर्शाना चाहा है कि यदि स्त्रियों को अपनी स्थिति में सकारात्मक बदलाव लाना है तो उसे स्वयं अपनी भूमिका तय करनी होगी।

समकालीन परिवेश में स्त्री चूल्हे–चौंके तक स्वयं को सीमित नहीं रखना चाहती। वह समाज एवं परिवार की बँधी–बँधाई परिपाटी से मुक्त होना चाहती है।

---

1 सूद, नीरजा (डॉ०), समकालीन महिला उपन्यास लेखन : एक अन्तर्दृष्टि, निर्मल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, सन्–2006, प्राक्कथन से उद्धृत

2 पाण्डे, मृणाल, जहाँ औरतें गढ़ी जाती हैं, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–2006, पृ०सं०–50

3 उद्धृत, त्यागी, मुक्ता (डॉ०), समकालीन महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में नारी–विमर्श, अमन प्रकाशन, कानपुर, सन्–2012, पृ० सं०–120

अपने जीवन की दिशा स्वयं निर्धारित करने के लिए वह स्वयं को सक्षम बना रही है। 'विरुद्ध' उपन्यास की रजनी इसी का एक उदाहरण है। वह अपनी सामाजिक भूमिका स्वयं तय करने की आकांक्षा रखती है, ''चालू सामाजिकता के संदर्भ में वह क्या रोल चुन सकती है अपने लिए? यही न कि या तो बिल्लो जैसी लड़कियों की तरह भरसक बौद्धिकता का आवरण ओढ़कर परिवार के बंधनों के परे एक ऊँची गद्दी खोजे, या फिर रमला की तरह एकाध बेटा जनकर मर्दों की उस चमकीली इस्पाती दुनिया में परोक्ष रूप से घुसपैठ कर मातृकला में लीन हो जाए। छिः।''[1] अतः 'छिः' शब्द उस खिन्नता का बोध कराता है जिसमें स्त्री घर–गृहस्थी के जंजाल में फँसकर रह जाती है, रजनी उस परिवेश का हिस्सा बनना नहीं चाहती। वह अपनी भूमिका इस प्रकार से निर्धारित करना चाहती है जिसमें उसका अक्स झलकता हो। नारी में आये इस बदलाव के पीछे शिक्षा का बहुत बड़ा हाथ है। ''शिक्षा महिलाओं की स्थिति सुधारने आत्म–विश्वास जगाने, आत्मसम्मान की भावना पैदा करने, सही ढंग से सोच–विचार की योग्यता बढ़ाने, समाज में परिवर्तन लाने एवं आर्थिक विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। सामाजिक एवं आर्थिक नीति का ढाँचा महिला शिक्षा से प्रभावित होता है।''[2]

शिक्षा के प्रसार से जागरूकता बढ़ी जिससे स्त्री की पारम्परिक छवि एक परिवर्तित संस्करण के रूप में सामने आई है। स्त्री ने घर की दहलीज लाँघकर बाहर की दुनिया में हस्तक्षेप किया है। 'पटरंगपुर पुराण' उपन्यास में सुनैना की बेटी सावित्री साधारण ग्रामीण जीवन से ऊपर उठकर शिक्षा प्राप्त कर देश–विदेश में प्रसिद्धि प्राप्त करती है। ''ऐसी किताबें लिख दी हैं, सुना उसने, इतिहास–पुराणों पर, कि दूर–दूर जरमन – अमरीका – बिलैत –जापान सब जगह से अंगरेज लोग भी मंगा–मंगा के पढ़ते हैं उन्हें। औरी जो निमंत्रण भेज–भेज के बुलाते हैं उसे हर साल, कि हमारे देश में आ के भाषण दे जाओ, करके। पाँच–छै तो बिलैती भाषा जानती है, सुना, सावित्री।.... गगन नेता ही हमें बता रहा था कि काखी (चाची) सावित्री दिदी की लिखी किताबें तो बिलैत में छपती हैं, बिलैत में। चार सौ–पाँच

---

1 पाण्डे, मृणाल, विरुद्ध, सरस्वती विहार, नई दिल्ली, सन्–1977, पृ० सं०–130

2 सिंह, राजबाला, मानवाधिकार एवं महिलाएँ, आविष्कार पब्लिशर्स, जयपुर, सन्–2011, पृ०सं०–126

सौ रुपये में एक–एक किताब बिकती है उसकी।''[1] अतः शिक्षा ने स्त्री को जीवन जीना सिखाया है, उसे नये आयाम प्रदान किये हैं। डॉ० रघुवीर सिन्हा के विचारानुसार, ''नारी चेतना और शिक्षा तथा उनके बढ़ते नये चरणों ने नारी को प्रेम से अधिक यथार्थात्मक, संतुलित, अर्द्धभौतिक, आत्मिक रूप का बोध कराया और उसे पीढ़ी–दर–पीढ़ी की जन्मजात घुटन और चुभन से मुक्त कराकर सम्बन्धों के स्वच्छन्द वातावरण में पनपने और फलने–फूलने के प्रति आशा और विश्वास दिलाये हैं।''[2]

'रास्तों पर भटकते हुए' उपन्यास की मंजरी आधुनिक सुशिक्षित नारी है। वह जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण रखती है, इसीलिए वह अपने असफल विवाह को स्वतन्त्रता मानती है, ''मैं तो यूँ ही खुश हूँ। खूब घूमती हूँ, जहाँ जी चाहे! जितने दिन तक चाहूँ। न कच्चे–बच्चे, न घर–बखार का झंझट।''[3] मंजरी अपने दुर्भाग्यपूर्ण सम्बन्धों का रोना नहीं रोती। और न ही वह एक अबला नारी बनकर जीने में विश्वास रखती है। उसकी दृष्टि में, ''औरतों की ऐसी कमजोरी, जो उन्हें अपने ही आतयायी के चरण थामकर लौटने और उसकी अनुनय–विनय करने को बाध्य करे, देखकर मुझे हमेशा उबकाई आती है।''[4]

शिक्षित स्त्री को यह विश्वास हो गया है कि वह अपना जीवन पूर्ण सुरक्षा एवं सामर्थ्यानुसार चला सकती है। स्त्री ने अपने बलबूते पर आधुनिक समाज में गरिमामय रूप प्राप्त किया है। अतीत में संभावनाओं के रहते हुए भी उसके व्यक्तित्व को उभरने का अवसर नहीं मिल पाया। परन्तु आज स्थिति यह है कि वह भी उसी मुकाम पर खड़ी है जहाँ पुरुष है। यह उसका अथक् परिश्रम है, जिसके द्वारा उसने किन्हीं अर्थों में सामाजिक–आर्थिक दासता से मुक्ति प्राप्त की है। मृणाल पाण्डे के उपन्यास 'देवी : समयातीत गाथाएँ स्त्रियों की' में आधुनिक समाज की स्त्री की परिवर्तित भूमिका 'गौरी अम्मा' के रूप में चित्रित की गई है। गौरी

---

1 पाण्डे, मृणाल, पटरंगपुर पुराण, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–1983, पृ० सं०–142

2 सिन्हा, रघुवीर (डॉ०), आधुनिक हिन्दी कहानी : समाजशास्त्रीय दृष्टि, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, सन्–1977, पृ०सं०–92

3 पाण्डे, मृणाल, रास्तों पर भटकते हुए, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–2000, पृ०सं०–43

4 यथावत्, पृ०सं०–102

अम्मा आंध्र प्रदेश राज्य की कस्थल कापो जाति से सम्बन्ध रखती है। वह कलकत्ता के खड़गपुर क्षेत्र में शमशान घाट पर मृत देहें जलाने का काम करती है। ''वह कहती है कि यह काम करने वाली वह शायद अकेली स्त्री है। गौरी अम्मा दस बरस की उम्र में अपने परिवार के साथ यहाँ आई थी। इस बात को तीस बरस हो गए। आज वह चालीस बरस की विधवा है, चांडाल के तौर पर काम करके हुई कमाई से उसने अपनी तीन बेटियों के ब्याह किए हैं। वह महीने–भर में हज़ार से पन्द्रह सौ रुपए तक कमाती है और उसे अपने पेशे पर गर्व है। 'मैं ईमान की कमाई खाती हूँ,' वह कहती है।''[1]

गर्भ से समाज तक की यात्रा में स्वयं को असुरक्षित समझने वाली नारी, अब अपनी सुरक्षा के प्रति पूर्णतया चिन्तित और सचेत है। प्रस्तुत उपन्यास में शोम्पा भी इसी प्रकार का चरित्र है। पुरुष समाज ने उसे वेश्या बनने पर विवश किया, उसने आत्महत्या नहीं की बल्कि इस व्यवसाय को धन प्राप्ति के रूप में समझकर इसे अपना लिया। अब वह पुरुषों द्वारा निर्मित इस व्यापार को भी जान चुकी थी। वह अपनी माँ को समझाते हुए कहती है, ''उनके सिर पर चाँदी का जूता मारो माँ तो तुम्हारा किया–धरा सब झेल लेंगे! .....यहाँ जिन्दा पाने के लिए काठ का दिल करना जरूरी है माँ। किसी मरद को अपने कंधे पर सिर टिकाने दिया तो साला कान में मूतने लगता है।''[2] स्त्री अपनी लड़ाई स्वयं लड़ना जानती है। लेखिका ने पश्चिमी बंगाल की रेपे मुर्मु का उदाहरण भी दिया है जिसने घर में पति द्वारा उसके साथ किये जाने वाले दुर्व्यवहार को रोकने के लिए खुद संघर्ष किया। ''1996 में उसका ब्याह एक शराबी से हुआ। ब्याह के छह महीने के अंदर ही पति ने रेपे से बुरा व्यवहार करना शुरू कर दिया, आखिर अपनी जान बचाने के लिए रेपे को घर छोड़कर जाना पड़ा। न्याय के लिए वह अपने गाँव की पंचायत में गई जिसकी सब सदस्याएँ औरतें ही थीं। पंचायत ने रेपे के पति को मजबूर किया कि वह उसे वापस घर ले जाए। तब से अब तक रेपे अपने क्षेत्र के दस अलग हो चुके जोड़ों को मिलवा चुकी है। उसका पति भोला शराब से तौबा कर चुका है। अपनी

---

1 पाण्डे, मृणाल, देवी : समयातीत गाथाएँ स्त्रियों की, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–1999, पृ०सं०–167

2 यथावत्, पृ०सं०–172

सफलता से उत्साहित और अपने पियक्कड़, काहिल, औरतख़ोर मर्दों से परेशान औरतों ने अवैध दारू की दुकानों पर धावा बोल दिया और शराब की भट्टी तोड़ डाली। आज मिदनापुर ज़िले के केशियारी क्षेत्र के मर्दों को संदेश मिल चुका है : दारू पीना बंद करो। अपनी पत्नियों को घर वापस ले जाओ। या फिर नतीजा भुगतने के लिए तैयार रहो।''[1] अतः आज स्त्री अपने ढंग से अपने अधिकारों को प्राप्त करने में सक्षम हो गई है तथा अन्य महिलाओं को भी जागृत कर रही है।

पुरुष वर्चस्व के किले में औरत ने जो सेंध लगाई है, उसके परिणाम भी सबके सामने हैं। वह घर की रोजी–रोटी चलाने के लिए पुरुषों का 'वीर–चालीसा' नहीं पढ़ती बल्कि स्वयं आत्मनिर्भर बनने के लिए कदम आगे बढ़ा रही है। वह लीक से हटकर कुछ अपने एवं समाज के लिए करना चाहती है। 'अपनी गवाही' की कृष्णा अध्यापन कार्य से संतुष्ट नहीं है। अन्ततः वह इसे छोड़ देती है। ''आखिरकार वह भी मान गई कि आया और कुत्ते के साथ महँगी कारों में कॉलेज आने वाली अमीरजादियों को अंग्रेज़ी पढ़ाकर वह अपना वक्त ही जाया कर रही है। .... ऐसे में कृष्णा को उस काम में लगना चाहिए जहाँ सचमुच कुछ किया जा सकता है।''[2] वह हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र का चुनाव करती है ताकि गंभीर सामाजिक सरोकारों को आम जनता के समक्ष प्रस्तुत कर सके। मीडिया को एक लम्बे समय तक पुरुषों का ही क्षेत्र माना गया था। एक महिला का इस क्षेत्र में प्रवेश कौतूहल का हेतु ही था, ''यह अस्सी के दशक के शुरू के दिन थे और पत्रिकाओं का वैभव अभी तेजी पर था। पर यह भले ही पाठकों के लिए अच्छा दौर हो लेकिन किसी युवा महिला सम्पादक के लिए बहुत आरामदायक वक्त नहीं था। आप बायें हाथ से गिलास पकड़े–पकड़े दाहिने हाथ के पोरों पर ही महिला सम्पादकों की संख्या गिन सकते थे।''[3] स्पष्टतः कृष्णा ने अपनी योग्यता के दम पर इस क्षेत्र में उच्च मुकाम प्राप्त किया जो उसके सुदृढ़ व्यक्तित्व को उजागर करता है तथा यह संपूर्ण नारी–जाति के लिए प्रेरणादायी भी है।

---

1 पाण्डे, मृणाल, देवी : समयातीत गाथाएँ स्त्रियों की, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा०लि०, नई दिल्ली, सन्–1999, पृ०सं० 143–144

2 पाण्डे, मृणाल, अपनी गवाही, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–2003, पृ०सं०–28

3 यथावत्, पृ०सं०–43

मृणाल पाण्डे की कहानी 'यानी कि एक बात थी' भी आज के परिवेश में नारी की परिवर्तित भूमिका को प्रस्तुत करती है। कहानी की नायिका शिक्षित, जागरूक तथा स्वाभिमानी होने के साथ–साथ भावुकता से भरा हृदय भी रखती है। वह अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए अपने पति से तलाक ले लेती है। लगभग पंद्रह वर्ष के बाद उसकी भेंट अपने पति से होती है। तब तक वह एक सफल तथा स्वावलम्बी महिला बन चुकी होती है। भेंट के भावुक क्षणों में उसके भीतर की स्नेहवंचिता स्त्री जाग उठती है। वह अपने आपको समर्पित कर देना चाहती है। किन्तु इसी भाव–प्रवाह में उसका स्वाभिमान जाग उठता है और उन भावुक भावनाओं से अपना दामन झाड़कर वह उठ खड़ी होती है। ''मेरे टुच्चेपन को उसने ऐसे औदार्य से बख्श दिया है कि मैं एकदम बौनी हो गयी हूँ! अपनी परछाईं से भी छोटी। और इस वक्त यह बेसाख्ता मुझसे प्यार कर रहा है। मेरे सारे जिद्दी वजूद को अपने वजूद से टटोलते, मेरे घावों, मेरी दुखती चोटों को अपने प्यार की असहाय ताकत से पूरने को, मेरे भीतर–बाहर, ऊपर–नीचे, घूमते–मँडराते, ऐसे कि मैं थककर अंततः पूरी–की–पूरी सो जाऊँ और वह मुझे उठाकर एक सुरक्षित किले में ले जाये जिसके बाहर घूमते दैत्यों के आर्तनाद से डरकर मैं उससे लिपट पड़ूँगी और तब वह कहेगा कि आओ, और मैं कहूँगी कि आती हूँ, और झरने की तरह उफनती हुई मैं आऊँगी और उसे सराबोर कर दूँगी। नहीं।''[1] वस्तुतः 'नहीं' के रूप में उसका प्रतिकार यह आभास दिला देता है कि उसके पति के जीवन में उसका स्थान तुच्छ है। उसकी भावनाओं से उसका सरोकार न कल था न ही आज। वह उसे उसकी भावनाओं के बल पर केवल 'ब्लैकमेल' करना जानता है। अतः नारी की परिवर्तित भूमिका के रूप में यह कहानी अति महत्त्वपूर्ण इसलिए बन जाती है क्योंकि अब तक अपने अस्तित्व को लेकर स्त्री के विरोध के स्वर तो उठते थे किन्तु अपने अधिकार के लिए पति को तलाक दे देने के हौंसले का प्रायः महिलाओं में अभाव ही रहा है।

---

1 पाण्डे, मृणाल, यानी कि एक बात थी, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–1990, पृ०सं०–255

आमतौर पर महिलाओं के संदर्भ में यह धारणा है कि बाहरी दुनिया से उसे न तो कोई सरोकार है न ही होना चाहिए। किन्तु इस धारणा को कहानी 'परियों का नाच ऐसा' में पूरी तरह तोड़ा गया है। कहानी में गाँव के समस्त पुरुष बारात लेकर चले जाते हैं। तत्पश्चात् महिलाएँ विविध नाच–स्वाँगों के माध्यम से अपने भीतर संचित भावनाओं का प्रदर्शन करती हैं। अतः स्त्री पुरुष की मानसिकता का शिकार नहीं होना चाहती। वह चाहती है कि पुरुष उसकी बात को सुने, समझे तथा उसकी भावनाओं को सम्मान प्रदान करे। हाशिये को तोड़ती हुई चुप्पी, मौन को गहरे अर्थ देने लगी है इसीलिए वर्चस्ववादी संस्कृति एवं उसका प्रभुत्व संकटावस्था में है। स्त्री ने 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो', 'मैं नीर भरी दुःख की बदली' तथा 'आँचल में है दूध और आँखों में पानी' जैसी मान्यताओं को खंडित कर दिया है। उसने अपनी तार्किक क्षमता से पितृसत्ता द्वारा निर्मित उन सभी प्रतिमानों का विरोध किया है जो अवैज्ञानिक हैं।

मृणाल पाण्डे द्वारा रचित कहानी 'एक थी हँसमुख दे' पूर्णतया स्त्री–विमर्श पर आधारित है। कथानायिका हँसमुख दे पितृसत्तात्मक व्यवस्था को खुले रूप में चुनौती देती है। ''हँसमुख दे ने बताया, कि वह थी पाटण के नरेश की राजकुमारी। उसके बाप के बाल–ब्रह्मचारी गुरु थे बड़े दुर्वासा। औरतों की परछाईं भर पड़ने पर गंगास्नान करने वाले। एक बार मुँहजली हँसमुख ने हँसते–हँसते पूछ ही तो दिया– 'गुरुजी, आप अपनी माँ के पेट से निकलकर भी क्या गंगास्नान करने ही भागे थे? दूध क्या आप बैल का पीते हैं? धरती भी तो स्त्री जाति है, अब आप उसके सीने पर उपजा अन्न कैसे ग्रहण करते हैं? राजगुरु इस वामा तर्क से आगबबूला हो गये।''[1]

स्त्री पीछे चलने की परम्परा से अपने को मुक्त कर रही है। वह नये में कुछ और नया तलाशने में जुटी हुई है। अपने मत को व्यक्त करने के लिए वह किन्हीं प्रतीकों, बिम्बों, माध्यमों का सहारा नहीं लेना चाहती। वह स्वयं मुखर हो रही है। 'कगार पर' कहानी की मिली चेतना सम्पन्न स्त्री है। वह स्त्री–सरोकारों के प्रति

---

1 पाण्डे, मृणाल, एक थी हँसमुख दे (कहानी–संग्रह : बचुली चौकीदारिन की कढ़ी), राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–1990, पृ०सं०–167

सजग है। मृणाल पाण्डे उसके विषय में लिखती हैं, ''वह आजकल औरतों की आजादी पर काफी किताबें पढ़ती रहती थी और समाज पर आरोपित मर्दानगी और जनानगी के झूठे नियमों पर काफी बोलती–सोचती थी।''[1] अतः मिली स्त्री अस्तित्व के लेकर काफी गंभीर है।

निःसन्देह मृणाल पाण्डे ने परिवर्तित नारी भूमिका को शक्तिशाली स्वरूप में प्रकट किया है जो समाज के सामने एक मिसाल बनकर उभरी है।

## 7.3 परम्परागत संस्कारों एवं बन्धनों से मुक्ति का प्रयास

स्वतन्त्रता प्रत्येक प्राणी की सांस है। स्वतन्त्र वायुमण्डल में सांस लिए बिना कोई समाज विकास नहीं कर सकता। मनुवादी व्यवस्था में समाज की आधी शक्ति सामाजिक, धार्मिक संस्कारों के नाम पर लक्ष्मण रेखा के भीतर जकड़ दी गयी है। मृणाल पाण्डे के मतानुसार, ''जब पशु–पक्षी भी पराधीनता का जीवन बिताना पसन्द नहीं करते, तो हम यह कैसे मान सकते हैं, कि पराधीनता मनुष्य जाति के आधे भाग की अनिवार्य नियति है, जिसे वह हँसी–खुशी सर–माथे रखने को अहर्निश तत्पर बैठी है? पराधीनता के मूल में हर कहीं शक्ति का एक विषम असन्तुलन होता है, और जहाँ भी मनुष्य–समाज में एक वर्ग की स्वाधीनता और गरिमा घटती है वहाँ कहीं–न–कहीं उनके क्षय से समाज के किसी दूसरे वर्ग को लाभ अवश्य हो रहा होता है। मनुष्य–जाति धर्म, परम्परा या कुदरती नियमों के नाम पर इस असंतुलन को कई तरह से जायज ठहराती आयी है, पर स्त्रियों की स्थिति के ईमानदार अध्ययन से यह साफ़ प्रामाणित होता है, कि यह असंतुलन कुदरती या दैवी कारणों से नहीं उपजा, बल्कि ठोस भौतिक लाभ उठाने के लिए एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के विरुद्ध उपजाया गया है, और इसे स्थायी बनाये रखने के लिए हर तरह से साम–दाम–दण्ड–भेद का इस्तेमाल किया जाता रहा है। इस बात के समझ में आने पर कई ऐतिहासिक, पारम्परिक और धार्मिक गुत्थियाँ हमारे मन में अपने–आप सुलझने लगती हैं, और स्त्रियों की स्थिति की मार्फ़त हमें पितृसत्तात्मक परम्परा, जातिवाद, धर्मान्धता, उपनिवेशवाद और वर्ग–भेद–सबकी भी अधिक गहरी और

---

1 पाण्डे, मृणाल, कगार पर (कहानी–संग्रह : यानी कि एक बात थी), राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–1990, पृ० सं०–98

ऐतिहासिक समझ मिलने लगती है।''[1] अतः लेखिका अपने मत द्वारा यह स्पष्ट करना चाहती है कि स्त्री के पैरों में डाली गई संस्कारों एवं बंधनों की बेडियाँ पितृसत्तात्मक समाज की ही देन हैं।

पुरुष समाज स्त्री से हर उस मर्यादा की रक्षा की जिम्मेदारी निभाने की माँग करता है, जो ताकतवर समाज ने गलत या सही उसके लिए तय की है। पुरुष सदैव यही अपेक्षा रखता है कि महिलाएँ हमेशा की तरह घूँघट–पर्दे में बंद रहें, कर्म क्षेत्र में उनके मुकाबले आगे न आयें। महिलाओं की क्षमता को उसने सदा कम ही आँका है। परन्तु आधुनिक युग में धीरे–धीरे स्त्री स्वयं को पुरुष के अवलम्बन से भिन्न एक अलग इकाई के रूप में पहचान के लिए तैयार कर रही है।

ध्यातव्य है कि जिस प्रकार से पुरुषों का एक अंतर्जगत होता है ठीक उसी तरह स्त्रियों का भी है। उर्मिला शर्मा ने अपने आलेख 'स्त्री विमर्श' में लिखा है, ''स्त्री का अंतर्जगत बहिर्जगत पर इतना हावी है कि कई बार उसे सुध ही नहीं होती कि उनका अपना भी कोई अन्तर्जगत है और उसका होना महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि पुरुष उसके आसपास सम्बन्धों का इतना जटिल ताना–बाना बुनता है कि खुद उसका अपने से नाता टूटने लगता है। अंतर्जगत और बहिर्जगत के बीच लगातार बनने और टूटते रहने की इस जद्दोजहद में उसके भीतर से एक आवाज आती है कि यह नदी तो डूबकर पार करनी होगी। इसी में इसकी गरिमा और निस्तार है। आज वह अपनी स्वतन्त्र अस्मिता और सम्मान का प्रश्न उठा रही है। जहाँ एक सामाजिक चिन्तन और वैज्ञानिक बोध दृष्टिगोचर है।''[2] अतः स्त्री को स्वयं परम्परागत बन्धनों से मुक्ति के लिए आगे आना होगा।

कथाकार मृणाल पाण्डे समाज की स्वस्थ परम्पराओं एवं संस्कारों की पक्षधर है। परंतु जो संस्कार स्त्री के लिए बंधन स्वरूप एवं उसके विकास में बाधक हैं वे उनका कड़े शब्दों में विरोध करती हैं। उनका यह रुख उनकी रचनाओं में भी दिखाई देता है।

---

1 पाण्डे, मृणाल, स्त्री : देह की राजनीति से देश की राजनीति तक, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–1987, भूमिका से उद्धृत

2 पाण्डेय, रतन कुमार (संपा०), अनभै (पत्रिका), उपन्यास विशेषांक, रुचिका प्रिन्टर्स, मुंबई, अक्टूबर–मार्च 2007–2008, पृ०सं०–173

जब समाज में पुरुष पिता, पति एवं भाई के रूप में नारी पर एकाधिकार रखकर उस पर अंकुश लगाता है, तब वह अपनी क्षमतानुसार उन सामाजिक संस्कारों एवं बन्धनों से मुक्ति पाना चाहती है। मृणाल पाण्डे द्वारा रचित 'विरुद्ध' उपन्यास की रजनी वह पात्र है जिसमें इन बंधनों के प्रति विद्रोह है वह इन्हें अपने अस्तित्व के लिए घातक मानती है। ''कभी–कभी तो उसे लगता है कि हर वक्त उसके पूरे वजूद के भीतर एक खूँखार नामहीन आक्रोश पिंजड़े में बंद कद्दावर चीते की तरह चहल कदमी करता रहता है, किसी भी साधारण से वाक्य या हरकत को लेकर उछल पड़ने को आतुर और चौकन्ना।''[1] रजनी के भीतर मन में स्थिति तनावपूर्ण बनी रहती है। वह अपने पति से भी स्पष्टतः कह देती है कि वह उसके द्वारा थोपे गये विचारों को अपने ऊपर लागू नहीं करेगी, ''तुम समझते हो कि जबरन मुझसे अपनी पसन्द की बात कहलवा सकते हो? वह भी सिर्फ इसलिए कि अपनी ताकत से तुम मुझे इस तरह...?' उदय का हाथ तुरन्त ढीला पड़ गया। जैसे अंगारा छू गया हो।''[2] रजनी स्त्री होने के नाते वह सब कुछ चाहती है जो पुरुष ने अपनी बपौती समझकर हथियाया हुआ है अर्थात् वह चुप रहकर मर्यादा के नाम पर किये जाने वाले शोषण को सहन नहीं करेगी।

हमारे समाज का यह कटु सत्य है कि स्त्री को घर की लक्ष्मी के रूप में सम्मानित तो किया जाता है परन्तु जब वही स्त्री बाहरी दुनिया से अपना सम्पर्क जोड़ना चाहती है तो संस्कारों की दुहाई देकर उसका मार्ग अवरुद्ध कर दिया जाता है। हजारों ऐसे प्रसंग हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि विद्यालीय शिक्षा पूर्ण करने पर भी सार्वजनिक रूप से बोलते समय स्त्री झिझक महसूस करती है। यही नहीं महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय तक की तालीम हासिल करने के उपरान्त भी वह पुरुष प्रतिद्वन्द्वियों की तुलना में लगातार हीनता का बोध अनुभव करती हैं। तथा कार्यक्षेत्र में भी काम पूरा होते ही घर की ओर भागती हैं। वे अपनी आवाज को कभी बुलन्द कर ही नहीं पातीं। अर्थात् उनमें आत्मविश्वास की कमी आ जाती है। मृणाल पाण्डे ने 'देवी' उपन्यास में लिखा है ''हममें से अधिसंख्य लड़कियाँ जबसे

---

1 पाण्डे, मृणाल, विरुद्ध, सरस्वती विहार, नई दिल्ली, सन्–1977, पृ०सं०–9

2 यथावत्, पृ०सं०–49

होश सँभालती हैं, अपने को औरतों से ही घिरा पाती हैं। ये वे औरतें हैं जिनमें से अधिकतर के पास कोई अधिकार, कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व या स्वतन्त्र नज़रिया नहीं होता। लड़की के विपरीत वयः संधि की बेला में हमें अपने आगे रखने को स्त्रियों में अपना कोई सकारात्मक मॉडल नहीं दिखाई देता। हाँ, नकारात्मक कहिए तो ढेरों मिल जाएँगे! इसी के साथ यह अहसास भी निरंतर हमें होता रहता है कि हमारे न चाहते हुए भी कई सामाजिक दबाव बड़े नामालूम ढंग से धकियाकर हमें अहर्निश चपटा, दब्बू, कातर और मौन बनाने में जुटे हुए हैं।''[1] लेखिका यह कदापि नहीं चाहती कि स्त्री सदैव दुर्भाग्य के अश्रुकण ही लुटाती रहे। वह तो कस्तूरी मृग की भाँति है। मुक्ति की शक्ति नारी के भीतर ही है जिसे उसे पहचानना होगा। इसीलिए वे इस उपन्यास में सरस्वती का उदाहरण देकर स्त्री जाति को अभिप्रेरित करती हैं, उनका मानना है कि बिना गर्भनाल से कटे कोई नई पहल नहीं की जा सकती क्योंकि सरस्वती का भी यही संदेश है। इसी धारणा के अनुरूप उपन्यास में लेखिका ने ललिता के माध्यम से यह शुरूआत की है। ललिता समस्त मान्यताओं एवं संस्कारों से ऊपर उठकर विवाह की आयु हो जाने पर भी सुदूर पूर्वोत्तर विश्वविद्यालय में पढ़ाने के लिए चली जाती है। उसके इस प्रयास के पश्चात् उसकी माँ ने भी उसके लिए वर ढूँढना बन्द कर दिया था।

मृणाल पाण्डे ने 'हमका दियो परदेस' उपन्यास में टीनू द्वारा यह संदेश दिया है कि शिक्षा द्वारा भी स्त्री समस्त परम्परागत मान्यताओं एवं बंधनों से मुक्ति प्राप्त कर सकती है। जब टीनू–दीनू स्कूल के लिए जाती हैं तब अकसर अधेड़ मर्द और लड़के पढ़ने–लिखने वाली लड़कियों पर फब्तियाँ कसते हैं। ''अकसर इन फब्तियों की गूँज घर में भी सुनाई देती है। .... मौसियाँ मुस्कुराती हैं और 'लड़के तो लड़के ही ठहरे और लड़कियों को आखिर रोटियाँ बेलने और दालभात उबालने भर की अक्कल की ही जरूरत पड़ने वाली हुई,' जैसा कुछ कहती हैं। कभी–कभी वे मद्धम सुर में छोटी–छोटी खोपड़ियों के बखत से पहले गुमान के मारे खराब होने जैसी चेतावनियाँ देती हैं। मैं परवाह नहीं करती। मैं पढ़ सकती हूँ इसी से मेरा होना

---

1 पाण्डे, मृणाल, देवी : समयातीत गाथाएँ स्त्रियों की, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–1999, पृ०सं०–XV, प्रस्तावना से उद्धृत

साबित होता है।''[1] इस प्रकार से टीनू अपने 'होने' के अहसास से ही मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करती है। उपन्यास में टीनू की मौसी भी वैवाहिक बन्धन को अनिवार्य न मानकर इसका विरोध करती है। मौसी अध्यापिका बनकर लड़कियों को शिक्षित करना चाहती है। परिवार द्वारा उस पर विवाह का दबाव बनाया जाता है। वह इस प्रस्ताव को सिरे से नकार देती है, ''कोई जरूरी नहीं है। हम लोग क्या खरगोश हैं? हमारी हैड़मिस्ट्रेस को देखो, उन्हें तो पति या बच्चों की कोई जरूरत नहीं है। मजे में रहती हैं।''[2]

कलहकारी तथा जबरन थोपे गये दाम्पत्य जीवन की अपेक्षा एकाकी एवं स्वाभिमानी जीवन अधिक बेहतर है। 'रास्तों पर भटकते हुए' उपन्यास की मंजरी समय रहते समाज एवं परिजनों की परवाह किये बिना असफल वैवाहिक सम्बन्ध को एक निर्णय में तोड़कर स्वयं को स्वतंत्र एवं मुक्त कर लेती है। मंजरी के शब्दों में, ''मैंने चुपचाप सहमतिपत्र पर दस्तखत कर दिए। एक भंगुर नाटक जितनी जल्दी खत्म हो, अच्छा। .... कहीं मेरे भीतर उस तलाक कानून के लिए कृतज्ञता का भाव है, जिसके एक वार ने एक दमघोंट नारकीय जीवन से मेरी गर्भनाल काटी और मुझे आजाद कर दिया। उस परिवार से यथासम्भव दूर छिटक कर तब से निरन्तर एकाकी कक्षा में भटकती–घूमती मैं आज भी उस फैसले को कृतज्ञता से ही याद करती हूँ। उसी ने तो मुझे मुक्ति दी थी एक सम्पन्न पैशाची योनि से! घृणा से, आत्मदया से, ग्लानि से।''[3] व्यक्ति स्वातन्त्र्य एवं मुक्ति की चेतना के फलस्वरूप मंजरी अपने तलाक की एवज में ससुर द्वारा दिए गए सर्वसुविधा सम्पन्न फ्लैट को छोड़कर एक निम्नवर्गीय बस्ती में कमरा किराये पर ले लेती है।

'अपनी गवाही' उपन्यास की कृष्णा भी परम्परागत संस्कारों एवं बंधनों को छिटक कर अपना दायरा स्वयं निर्धारित करती है। वह अपनी पहचान किसी अन्य के नाम पर नहीं बनाना चाहती। इसीलिए ''उसने घर से बाहर यही सोचकर कदम रखा था कि फलाँ की बीवी, फलाँ की बेटी, फलाँ की बहू वाले या लेखक वाले

---

1 पाण्डे, मृणाल, हमका दियो परदेस, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–2001, पृ०सं०–45

2 यथावत्, पृ०सं०–94

3 पाण्डे, मृणाल, रास्तों पर भटकते हुए, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–2000, पृ०सं०–24, 33

नाम, ख्याति और बेजान से पड़े भारी–भरकम ठप्पों से मुक्त होकर कुछ अपने मन की सी कर सके।''[1] अतः कृष्णा में भी मुक्ति की कामना समाहित है।

लेखिका द्वारा रचित कहानी 'कुनू' में भी परम्परागत संस्कारों एवं बन्धनों से मुक्ति की पुकार सुनाई देती है। कहानी में जवान होती लड़की कुनू पर मर्यादा के नाम पर अनेक बंदिशें लगा दी जाती हैं। कुनू की माँ के शब्दों में, ''अब वह सयानी हो रही है, और उटंग फ्रॉक पहनकर अकेले इधर–उधर डोलते फिरने की उसे कोई जरूरत नहीं।' अगले दिनों में दर्जी को बुलाकर उसके लिए सलवार–कमीज की नाप दे दी गयी थी।... कुनू को लगता, वह उकताहट से मर जायेगी।.....वह भी बर्फ से जमें पाइपों की तरह फट जायेगी कभी।''[2] कुनू के मन में उग्रता का भाव बढ़ने लगता है। वह प्रायः यह सोचती है कि आखिर समाज में क्यों एक लड़की को उम्मीदों का आसमान नहीं मिलता है। अपने चारों ओर के उपेक्षित परिवेश को देखकर उसका प्रस्फुटन स्त्रियों के आंदोलित मन में मुक्ति का प्रतिनिधित्व करता है।

स्त्री को जन्म के साथ ही परम्परा से चले आ रहे संस्कारों एवं बंधनों में जकड़ने की कवायद होती रही है। 'ढलवान' कहानी में भी यही स्थिति दर्ज की गई है। कहानी में, परिवार द्वारा कथानायिका की महत्त्वाकांक्षाओं को मर्यादा की डोरी में बाँधकर नियंत्रित किया जाता है। विचारणीय स्थिति उस समय बन जाती है जब कथानायिका एक पागल औरत को जोर से हँसते हुए ठहाके लगाते देख 'ईर्ष्या' अनुभव करती है, ''रात देर तक मैं उस पगली के बारे में सोचती रही थी। अगले दिन जब उसने फिर ऊँचा ठहाका लगाया था तो मुझे हलकी–सी जलन हुई थी।''[3] अतः हमारे आधुनिक एवं प्रगतिशील समाज की युवतियों को यदि इस प्रकार की स्थितियों से गुजरना पड़े तो निश्चित रूप से स्त्री–मुक्ति के दावों तथा स्त्री–पुरुष की समानता के नारों पर पुनर्विचार की आवश्यकता प्रतीत होती है।

---

1 पाण्डे, मृणाल, अपनी गवाही, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–2003, पृ०सं०–9

2 पाण्डे, मृणाल, कुनू (कहानी–संग्रह : बचुली चौकीदारिन की कढ़ी), राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–1990, पृ० सं०–107

3 पाण्डे, मृणाल, ढलवान (कहानी–संग्रह : यानी कि एक बात थी), राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–1990, पृ०सं०–26

पुरुष वर्चस्ववादी समाज ने समस्त व्यवहारों को स्त्रियोचित तथा पुरुषोचित वर्गों में बाँटकर दोनों की प्राथमिकताओं में अंतर कर दिया है। स्त्री कैसे उठे, कैसे बैठे, किससे मिले, किससे न मिले, कैसे जिए, यह सब हजारों पीढ़ियों से पुरुषों ने तय कर रखा है। और वही संस्कारों के नाम पर उसके खून में रच बस गया है। जो पुरुष के लिए उचित है, वही स्त्री के लिए अनुचित। घर और समाज दोनों जगह उसकी स्थिति शोचनीय है। 'समुद्र की सतह से दो हजार मीटर ऊपर' कहानी में लेखिका ने स्त्री की इसी स्थिति का अंकन 'दाम्पत्य त्रासदी' के धरातल पर किया है। कथानायिका के लिए विवाह शुरू हुई अंत की शुरूआत के बराबर है, क्योंकि प्रख्यात नृत्यांगना की भाँति उसका भविष्य ऊपर ही उठ रहा था कि उसकी शादी हो जाती है। कई वर्षों के पश्चात् वह एकान्त में सोचती है कि, ''पैंतीस साल वे प्यार की मरीचिका के पीछे देश–विदेश भटकती फिरीं अपने पति के साथ, परिवार के साथ, और तब उन्होंने पाया कि कुछ भी नहीं भुलाया जा सकता, क्योंकि भूलने का मतलब है, अपनी ही जड़ों को काट डालना। और जड़ों के काट डालने का मतलब है, एक अनंत, दिशाविहीन भटकाव, छलाव।..... वे हाँफ रही हैं, सीना थामे हुए। पैंतीस साल के अंतराल में फैली स्याह आत्मवंचना की घड़ियाँ– सब चलता है– सब चलता है! झूठ! झूठ और क्लेश! विगत के उस उजाड़ विस्तार से घृणा का एक हरा सैलाब हहराकर भीतर घुसता है।''[1] अतः नारी का आत्मबोध उसे पति–आश्रिता पत्नी से ऊपर उठाकर महत्त्वाकांक्षी और स्वाभिमानी बना देता है। कथानायिका अपनी स्वतंत्र इच्छाओं की पूर्ति करना चाहती है। वह दूसरों की इच्छापूर्ति का माध्यम नहीं बनना चाहती।

कहानी 'एक थी हँसमुख दे' में भी हँसमुख परम्परागत मान्यताओं एवं बन्धनों से मुक्ति के लिए छटपटा रही है। उसकी माँ ने भी उससे यही कहा था कि, "गुरु पर उसूल–कानून लागू नहीं होते। गुरु पर नहीं, स्वामी पर नहीं, पिता पर नहीं, तब उसूल–कानून किसके लिए?''[2] यहाँ 'किसके लिए' चिन्तन का बिन्दु है। सामाजिक

---

1 पाण्डे, मृणाल, समुद्र की सतह से दो हजार मीटर ऊपर (कहानी–संग्रह : यानी कि एक बात थी), राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–1990, पृ०सं०–162

2 पाण्डे, मृणाल, एक थी हँसमुख दे (कहानी–संग्रह : बचुली चौकीदारिन की कढ़ी), राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–1990, पृ०सं०–169

कानून–बंधन स्त्री के लिए ही बने हैं। परन्तु विचारणीय प्रश्न यह भी है कि जब स्त्री इनका पालन कर सकती है तो पुरुष क्यों नहीं।

महादेवी वर्मा ने 'शृंखला की कड़ियाँ' में लिखा है, ''जो बन्धन पुरुषों की स्वेच्छाचारिता के लिए इतने शिथिल होते हैं कि उन्हें बंधन का अनुभव ही नहीं होता वे ही बंधन स्त्रियों को परावलम्बिनी दासता में इस प्रकार कस देते हैं कि उनकी सारी जीवनी शक्ति शुष्क और जीवन नीरस हो जाता है। समस्त सामाजिक नियम मनुष्य की नैतिक उन्नति तथा उसके सर्वतोन्मुखी विकास के लिए आविष्कृत किये गये हैं। जब वे ही मनुष्य के विकास में बाधा डालने लगते हैं तब उनकी उपयोगिता ही नहीं रह जाती।''[1] अतः ऐसे बन्धनों को त्यागना ही श्रेयस्कर है। सारांशतः पुरुष जिन महिलाओं को बहन, बेटी और बहू के रूप में बैठाकर कमान अपने हाथों में रखने से मंसूबे बना रहा है, कुछ समय बाद यही महिलाएँ स्वयं कमान सँभाल लेंगी। मृणाल पाण्डे अपनी स्त्री पात्रों द्वारा यही व्यक्त कर रही हैं कि आज समय की माँग है कि समाज स्त्री को परम्परागत खोखले संस्करों एवं बन्धनों में बाँधने की बजाए उसे मुक्त कर दे क्योंकि उन्मुक्तता में ही जीवन एवं विकास है।

## 7.4 परम्परागत मूल्यों में परिवर्तन का आग्रह

मनुष्य की प्रत्येक गतिविधि समाज सापेक्ष होती है तथा सामाजिक परिवेश मानव–व्यवहार को गहरे से प्रभावित करता है। समाज में एक ओर स्वस्थ सामाजिक परम्पराएँ एवं मूल्य मानव का चहुँमुखी विकास करते हैं वहीं दूसरी ओर यदि उनमें कोई बुराई प्रविष्ट हो जाए तो यह सामाजिक ढाँचे को केवल हानि ही नहीं पहुँचाते वरन् सामाजिकों के स्वस्थ विकास में भी बाधक सिद्ध हो जाते हैं। ऐसे नकारात्मक मूल्यों का विरोध प्रायः होता ही है। ''सामाजिक मूल्य बहुत बार इतने रूढ़ हो जाते हैं कि अपनी अर्थवत्ता भी खो बैठते हैं। तब इन जड़ मूल्यों को चिपकाने से लाभ नहीं होता। व्यक्ति इनसे मुक्त होना चाहता है। जब वह इनकी बाध्यता से मुक्त होकर अलग पलने का प्रयास करता है तब परम्परागत मूल्यों में टकराहट होती है और उसी टकराहट के फलस्वरूप संघर्ष का उदय होता है। यह

1 वर्मा, महादेवी, शृंखला की कड़ियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सन्–1941, पृ०सं०–22

संघर्ष आर्थिक कारणों से सबसे अधिक होता है, तब परिवार टूटते हैं, नारी में चेतना आ जाती है, वह बाहर निकलने लगती है, पुरुष के अहम् पर चोट लगती है, व्यक्ति अपनी सत्ता की दुहाई तरह–तरह से देने लगता है। फिर मूल्यों के प्रति जो दुर्भावनाएँ आती हैं, वे परिवर्तित होकर जो रूप ग्रहण करती हैं तो नवीन मूल्यों का जन्म होता है और कहानीकार इस सबको खुली आँख से देखता और चित्रित करता है।''[1]

साहित्यकार सामाजिक सरोकारों को पूर्ण करते हुए अपने भीतर के सर्जन को इस हेतु प्रेरित करता है कि वह इन विड़म्बनाओं पर लिखे तथा समाज के प्रबुद्ध वर्ग के चिन्तन को एक आयाम प्रदान करे तथा समाज के रूढ़ मूल्यों में बदलाव का आग्रह भी करे। लेखिका मृणाल पाण्डे के उपन्यासों एवं कहानियों के महिला पात्र सामाजिक मूल्य, जिनमें विसंगतियाँ उत्पन्न हो चुकी हैं, उनमें बदलाव का आग्रह करते प्रतीत होते हैं क्योंकि ये स्त्री–विकास में अवरोधक हैं। मूल्यों की जकड़बन्दी ने उसे पीछे धकेल दिया है।

परम्परागत मूल्यों की जड़ें इतनी गहरी हैं कि किसी संविधान कानून या आंदोलन के झटके से उन्हें एकाटक नहीं उखाड़ा जा सकता। लम्बा सफर तय करने पर भी इनका अस्तित्व जस का तस बना हुआ है, इनमें से ही एक है पुत्री की अपेक्षा पुत्र की कामना। 'विरुद्ध' तथा 'हमका दियो परदेस' उपन्यास में इसकी मार्मिक अभिव्यक्ति है। 'विरुद्ध' उपन्यास में, रजनी को एक अनचाही संतान का दंश अनेक बार झेलना पड़ता है क्योंकि परिवार में वह दूसरी बेटी थी। ''एक बार माँ ने भी कहा था कि जब वह हुई थी तो वे तकिये में मुँह छिपाकर खूब रोई थीं। बिल्लों की बार तो तब भी ठीक था। सबने कहा था कि पहली लड़की लक्ष्मी होती है, वगैरह। पर उस दफा सबको बेटे की आस थी।''[2] समाज के यह रूढ़िवादी मूल्य स्त्री में मानसिक तनाव को जन्म देते हैं।

'हमका दियो परदेस' उपन्याम में भी टीनू की माँ ने तीन बेटियों को जन्म दिया था। तीसरी बेटी के जन्म के समय घर का वातावरण दुःखमय हो गया था।

---

1 सिंह, प्रेम (डॉ०), साठोत्तरी कहानी और परिवर्तित मूल्य, मीनू पब्लिकेशन, दिल्ली, सन्–2003, पृ०सं०–106

2 पाण्डे, मृणाल, विरुद्ध, सरस्वती विहार, नई दिल्ली, सन्–1977, पृ०सं०–78

टीनू बताती है कि जब उसकी माँ को तीसरी बेटी हुई तो वे रोती–रोती सो गई थीं। और उनकी नानी भी बेहद दुःखी एवं परेशान थी, ''काश एक बेटा ही हो जाता ताकि उनकी बेटी की जान बच्चे पैदा करने से छूट जाती।''[1] अतः बार–बार बच्चे पैदा करने के कारण स्त्री का स्वास्थ्य कमजोर एवं रुग्ण हो जाता है। परन्तु जब तक वह बेटा पैदा न कर दे उसके प्रति समाज का रवैया उपेक्षित ही रहता है।

यह सत्य है कि सामाजिक मूल्यों तथा साँचों को गढ़ने वाले समाज के ठेकेदारों के विरुद्ध मुँह खोलने की ताकत न तो धर्म में है और न ही न्याय एवं शासन में। माता–पिता भी अपनी पुत्री के व्यक्तित्व को यथासम्भव कुचलकर उसे उन सांचों में ढालने को तैयार रहते हैं जिनमें उसके जीवन में आने वाला पुरुष उसे ढालना चाहता है। कम उम्र में ही उसके दिलोदिमाग और शरीर पर परम्परागत मूल्यों की पट्टियाँ इस कदर चढ़ा दी जाती हैं कि चाहकर भी उनसे छुटकारा नहीं पाया जा सकता। आज भी जवान लड़कियों का तेज बोलना, ज्यादा बाहर रहना अथवा किसी से ज्यादा मेल–मिलाप करना, उनके अक्षम्य अपराध माने जाते हैं। टीनू–दीनू का भाई अनु, मामा तथा बड़बाज्यू सभी इसी मानसिकता के द्योतक हैं। उन्होंने घर की महिलाओं को भी इन्हीं मूल्यों का अनुसरण करने के लिए बाध्य किया हुआ है। इसीलिए हीरादी एवं नानी सदैव लड़कियों को परम्परागत मूल्यों का पाठ पढ़ाती रहती हैं, उदाहरणतः ''ब्याहनें लायक बेटियों की लगाम कसे रखना जरूरी है।..... और ये बेटियाँ! ये तो रातोंरात जंगली घास की तरह बढ़ती हैं, रातोंरात! कोई कैसे जिए?..... जमाना खराब आ गया गीली जमीन पर पैर फिसलते क्या देर लगती है।''[2] हीरादी यही चाहती हैं कि सभी लड़कियाँ बन्द दरवाजों के पीछे रहें तथा अँधेरा होता ही नींद के गर्त में चली जाएँ। अतः परिवार अथवा समाज में इस प्रकार के मूल्य लड़कियों की महत्त्वाकांक्षाओं का गला घोंट लेने या घोंट दिए जाने की स्थिति अभिव्यक्ति करते हैं जो समाज को आगे नहीं पीछे ले जा रहे हैं।

---

1 पाण्डे, मृणाल, हमका दियो परदेस, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–2001, पृ०सं०–50

2 यथावत, पृ०सं० 71–74

सभ्य समाज के लिए आवश्यक है कि खोखली प्रथाओं एवं मूल्यों का खण्डन किया जाए क्योंकि इनका कोई अस्तित्व नहीं है। 'देवी : समयातीत गाथाएँ स्त्रियों की' उपन्यास में लेखिका ने अपनी माँ शिवानी की चर्चा करते हुए स्पष्ट किया है कि उनका विवाह परम्परागत मूल्यों से मंडित रूढ़िवादी परिवार में हुआ फिर भी उन्होंने अपना एवं अपनी बेटियों का जीवन सुधारा, उनके व्यक्तित्व को नवीन रूप प्रदान किया। वे शिक्षा को अति महत्त्वपूर्ण मानती थीं क्योंकि उनकी दृष्टि में यही एक हथियार है जिसके द्वारा मूल्यों के दायरों को भंजित किया जा सकता है।

प्रस्तुत उपन्यास में लेखिका मृणाल पाण्डे ने ललिता पात्र की रचना कर परम्परागत मूल्यों को तोड़ने का आग्रह किया है। ललिता के दादा जी उसे शिक्षित करते हैं तथा सदैव उसे आगे बढ़ने की प्रेरणा देते हैं। मृणाल पाण्डे के शब्दानुसार, ''दादा ने उसे वह परम गोपनीय मंत्र भी सिखाया जो पीढ़ियों से पुरुष अपने बेटों के कानों में सुनाते आए थे कि कहीं औरतों और गैर–जात के लोगों के कानों में न पड़ जाए।''[1] ललिता ने वेद–पाठ, गायत्री मंत्र सीखा जो स्त्रियों के लिए वर्जित था। उसने समस्त मूल्यों को दरकिनार कर अपने नियमानुसार जीवन–निर्वाह किया। हालाँकि भारतीय सांस्कृतिक वर्चस्व में स्त्री स्वतंत्रता के लिए कोई विशेष स्थान नहीं रहा है, उसे पराश्रित एवं पराधीन बनाने के लिए पुरुषों ने हजारों वर्षों से ज्ञान–विज्ञान, कला, संस्कृति, साहित्य, दर्शन, चिन्तन की दुनिया से इसलिए दूर रखा ताकि वह शिक्षित, चेतन, सजग एवं आत्मनिर्भर न बन सके। अतः शिक्षित ललिता समस्त पैमानों को तिलांजलि देकर आत्मनिर्भर व्यक्तित्व के रूप में अवतरित होती है।

जीवन–मूल्यों के आदर्शों की पकड़ ढीली होने से स्त्री पर थोपे गये सामाजिक नैतिक मूल्यों की जकड़न भी कम होगी क्योंकि इन मूल्यों में स्त्री को पराधीन बनाने की साजिश रही है। राजेन्द्र यादव के मतानुसार, ''नारी की महिमा का गुणगान सांस्कृतिक औदात्य की जरूरतें दोनों अलग–अलग हैं तथा एक–दूसरे की पूरक। पता नहीं यह गुणगान प्रायश्चित है या बेवकूफ बनाने की साजिश

---

1 पाण्डे, मृणाल, देवी : समयातीत गाथाएँ स्त्रियों की, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–1999, पृ०सं०–67

लफ्फाजी।''[1] वास्तविकता के धरातल पर पैतृक–मूल्यों में स्त्री का आदर एक ढकोसला ही रहा है।

जो स्त्रियाँ परम्परागत आदर्शों, मूल्यों के अनुरूप चलीं उन्होंने जीवनभर कष्ट ही झेले हैं। मृणाल पाण्डे पाँच महान् महिलाओं का उदाहरण देती हैं, जिनकी चर्चा हिन्दू धर्मग्रन्थों में आदर भाव के साथ की जाती है। ये हैं– अहिल्या, द्रौपदी, तारा, कुन्ती, मंदोदरी। लेखिका के अनुसार, ''भक्तिभाव से प्रातःकाल स्मरण किये जाने वाले इन नामों के पीछे स्त्रियों के लिए एक गूढ़ संदेश छिपा है। ये पाँच जीवन क्या बताते हैं? हमारी संस्कृति के समकालीन मूल्यों और दक्षिणपंथी राजनीतिक दलों के संकेत पहचानें तो सत्य के प्रति आग्रह रखने के कारण ही इन स्त्रियों ने इतना दुःख पाया।''[2] पुरुषों के बनाये समाज में स्त्री सदैव त्यागशील बनी रही जबकि पुरुषों के लिए मूल्यों की यह डोर तो पहले से ही ढीली है।

पुरुषों द्वारा स्त्री को उपनिवेशित मूल्यों की परिधि में ही रखा गया है। पुरुष सदैव उसकी अस्मिता पर प्रहार करता आया है। वह उसे मानवी न मानकर भोग–विलास की वस्तु मानता रहा है। इसीलिए वह यौन अपराधों को झेल रही है। स्त्री के साथ बलात्कार की घटनाएँ बढ़ रही हैं। एक पत्रकार की दृष्टि होने के कारण मृणाल पाण्डे ने स्त्री के साथ होने वाले यौन–शोषण को भी प्रस्तुत उपन्यास में दर्शाया है। जैसे– रूपन देयोल बजाज के साथ एक पुलिस अधिकारी ने सरेआम छेड़खानी की। वह सामाजिक मूल्यों की परवाह किये बिना अपने साथ हुए दुर्व्यवहार का बदला लेने के लिए सात साल तक कानूनी लड़ाई लड़ती रही। तत्पश्चात् उसे न्याय प्राप्त हुआ।

इसी तरह की एक अन्य घटना भी इस उपन्यास में वर्णित की गई है। जिसमें कुछ बंधुआ मजदूर औरतें जो खाली पड़ी सरकारी जमीन पर कब्जा करने गई थीं। जिनमें पोचम्मा की बहू एक थी। उसका हाल ही में प्रसव हुआ था इसलिए उसने निवेदन किया कि उसे न पीटा जाये, ''पुलिस ने दावे की सच्चाई

---

1 यादव, राजेन्द्र (संपा०), हँस (मासिक पत्रिका), अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, नवम्बर– दिसम्बर 1994, पृ०सं०–7

2 पाण्डे, मृणाल, देवी : समयातीत गाथाएँ स्त्रियों की, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–1999, पृ०सं०–161

परखने के लिए बहू की साड़ी उठवाकर देखा।.... पुलिस अकसर इस इलाके में आती है, चुनौती देने वालियों को पीटती है, घसीटती है, नंगा करती है, बलात्कार करती है। उन्हें ट्रकों में थाने ले जाया जाता है। कुछ औरतें कभी नहीं लौटतीं। कभी–कभी नहर में उनकी बहती लाश मिलती है, कभी किसी कोठरी में छत से टँगी देह। पुलिस उसे आत्महत्या कहती है।''[1] बलात्कार एवं यौन शोषण केवल पुलिस वर्ग ही नहीं कर रहा बल्कि अन्य पुरुष वर्ग की भी यही स्थिति रही है। परम्परागत मूल्यों के कारण ही पुरुष सत्ता वर्ग अधिक शक्तिशाली हुआ है। परिणामस्वरूप स्त्री पर हिंसक घटनाओं में बढ़ोतरी हुई है। राजकिशोर के शब्दानुसार, ''गाँवों में ताकतवर जातियों की स्त्रियों के साथ सामूहिक बलात्कार या उन्हें नंगा घुमाना कामुकता की कम हिंसा और अपमान की घटनाएँ ज्यादा हैं।''[2]

मृणाल पाण्डे ने सामाजिक मूल्यों की ओट में स्त्रियों पर होने वाले अत्याचार, व्यभिचार की गाथा को मार्मिक अभिव्यक्ति दी है। जिसमें उन्होंने यही संकेत दिए हैं कि आज भी स्त्री पुरुष प्रधान समाज द्वारा निर्मित मूल्यों से त्रस्त भी है और संघर्षरत् भी।

समाज को व्यक्ति की सुरक्षा एवं उसकी प्रगति के लिए बनाया गया है परन्तु जब इसी समाज के आदर्श व्यक्ति के लिए बंधन बन जाएँ तो इसकी प्रासंगिकता पर प्रश्न चिह्न लग जाते हैं। हमारी सामाजिक व्यवस्था में विधवाओं के प्रति अत्यंत उपेक्षित नज़रिया रखा जाता है। विधवा स्त्री को अच्छे कपड़ों, अच्छे खाने से वंचित रखकर जीवन घसीटने पर मजबूर किया जाता है। समाज उन पर पुनर्विवाह न करने, सती होने जैसे अनेक प्रतिबन्ध लाद देता है। 'अपनी गवाही' उपन्यास में कृष्णा की माँ विधवा का जीवन गुजार रही है। वह अपनी इच्छाओं को परम्परागत मूल्यों की आड़ में क्षीण नहीं होने देना चाहती। ''कृष्णा की माँ को चूड़ियाँ बहुत पसन्द थीं। लेकिन विधवा होने के चलते वह काँच की चूड़ियाँ नहीं पहन सकती इसलिए उसने प्लास्टिक और पक्की मिट्टी की चूड़ियों जैसी न जाने

---

1 पाण्डे, मृणाल, देवी : समयातीत गाथाएँ स्त्रियों की, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–1999, पृ०सं०–166, 168

2 राजकिशोर, स्त्री–पुरुष : कुछ पुनर्विचार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सन्–1992, पृ०सं०–113

कई नई चीजें ढूँढ़ ली थीं।''[1] अतः पार्वती का यह दृष्टिकोण जीवन के प्रति आशावादी है। वह परम्परागत मूल्यों को चुनौती देती प्रतीत होती है।

मृणाल पाण्डे यथार्थनिष्ठ साहित्यकार है, वह ऐसे पात्रों का निर्माण करती हैं जिनका व्यक्तित्व प्रेम, ममता, गृहस्थी से अधिक गहरी, विस्तृत परिभाषा माँगता है। जहाँ उसके स्वयं का 'होना' अहम् है। लेखिका ने दबे स्वर में नहीं बल्कि प्रतिबद्धता के साथ बुलन्द स्वर में 'दरम्यान' कहानी में प्रवासी जीवन के कथ्य को लेकर, उन निरपराध, नासमझ लड़कियों का पक्ष लिया है जो शादी के बाद मजबूरन ढ़र्रे पर आ जाती हैं। जिनको थोथे आश्वासनों से फुसलाया जाता है। कहानी में प्रवासी मनोहर की बहन शान्ता है। जो विवाह से पूर्व हँसमुख एवं बेपरवाह थी। परन्तु सामाजिक परम्परानुसार जब तक शादी का जुआ गले न पड़े, लड़कियों को समझदारी नहीं आती। उसका विवाह कर दिया जाता है। वह घर–गृहस्थी में ही रम जाती है। उसका व्यक्तित्व दब्बू बनकर रह जाता है। ''एकदम सपाट और आयामहीन औरत, जिसे खड़ी कर दो तो खड़ी हो जायेगी, धक्का दे दो तो लद्द से गिर पड़ेगी। न तो उससे बात की जा सकती है और न ही तर्क या झगड़ा। और अचंभा तो उसे इस बात पर होता है कि शांता इस स्थिति में कोई खास दुःखी भी नहीं लगती। शायद उसने अपनी सारी अनुभूतियों और चेतन–तंतुओं को ऐसा भीतर सिकोड़ लिया है कि आदर–अपमान, दुःख–सुख किसी का भी उस पर असर नहीं होता। दिन आते हैं और चले जाते हैं, पर उसकी जिन्दगी का ढ़र्रा वही रहता है, चाहे हिन्दुस्तान में हो या दस हजार मील दूर यहाँ पर। पति के चिल्लाने खखारने के साथ उसका दिन शुरू होता है और उसी के खर्राटों के साथ खतम; बीच में कहीं बच्चों, खानों, मसालों, धुलाई के कपड़ों और पोंछी जाने वाली धूल की पर्तों का एक विराट् अम्बर है, जिसे जैसे–तैसे निबटाना भी उसकी निजी जिम्मेदारी है।''[2] शान्ता परम्परागत मूल्यों से जकड़ी वह औरत है जिसका जीवन पराधीनता का बोध कराता है, जहाँ केवल पुरुष की ही सत्ता व्याप्त है, स्त्री का स्थान नगण्य है।

---

1 पाण्डे, मृणाल, अपनी गवाही, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–2003, पृ०सं०–59

2 पाण्डे, मृणाल, दरम्यान (कहानी–संग्रह : यानी कि एक बात थी), राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–1990, पृ०सं०–115

इसी कहानी में बिहारी नामक प्रवासी युवक का चरित्र–चित्रण किया गया है जो सामन्तवादी मूल्यों का समर्थक है। बिहारी के लिए औरतों की दो श्रेणियाँ हैं, ''एक बाजारू, दूसरी गृहस्थिन। उसके दिमाग में खुद के लिए इन दोनों के समानांतर प्रयोजनों की एक लम्बी सूची भी तैयार रहती है। मूल रूप से उसके लिए इन दो तरह की औरतों में कोई मेल नहीं बैठता, पर इसमें उसे कोई शक नहीं है कि दोनों ही जिस्मों–दिमाग से मर्दों से इतनी नीची हैं, कि उन्हें लेकर ज्यादा भावुक या उदास होना बेकार है।..... फिर इन औरतों का क्या, कपड़े–गहने खरीदे, शादी–ब्याह में गयीं, खुश। उन्हें कौन नौकरी करनी है?''[1] बिहारी जैसे पुरुषों की मानसिकता के कारण ही स्त्री परम्परागत मूल्यों को खामोशी से सहन कर रही है।

समाज स्त्री को पुरुष की तुलना में कमतर आँकता है। स्त्री के प्रति पुरुष समाज का रवैया घृणा से भरा एवं अपमानजनक रहा है जो दर्शाता है कि परम्परा द्वारा हस्तांतरित विकृत मूल्य स्त्री को गुलाम बनाते हैं। 'एक नीच ट्रैजेडी' कहानी में लेखिका ने सुधा के द्वारा यह व्यक्त किया है कि परम्परागत रूप में पुरुष स्त्री को अपनी स्थायी सम्पत्ति के रूप में देखता है। वह उसे अपने नियमानुसार चलने के लिए बाध्य करता है। सुधा के शब्दों में, ''जो पुरुष मैंने देखे हैं न, बसों में, घरों में, ट्रेनों में– सब–के–सब जकड़नेवाली जात के हैं। वे धरोहर नहीं, स्थावर सम्पत्ति चाहते हैं जिसके चारों तरफ काँटेदार बाढ़ खींचकर वे बोर्ड टाँग दें– आम रास्ता नहीं।''[2]

पारम्परिक मूल्य, स्त्री को पतिव्रता नारी बनने के लिए गांधारी के समान अन्धा बनने को विवश करते हैं। उसका जीवन प्रयोजन रहित बन जाता है। ''स्त्री विरोधी वाक्यों और इन विशेषणों से हमारे शास्त्र भरे पड़े हैं। इन जुल्मों को सुनना और झेलना औरत की नियति रही है।''[3] स्त्रियों की दयनीय दशा से आहत होकर

---

1 पाण्डे, मृणाल, दरम्यान (कहानी–संग्रह : यानी कि एक बात थी), राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–1990, पृ०सं०–117

2 पाण्डे, मृणाल, एक नीच ट्रैजेडी (कहानी–संग्रह : बचुली चौकीदारिन की कढ़ी), राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा०लि०, नई दिल्ली, सन्–1990, पृ०सं०–61

3 जैन, अरविन्द, औरत : अस्तित्व और अस्मिता, राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–2001, पृ०सं०–12

मृणाल पाण्डे ने लिखा है, ''देवी ही जानती है कि लड़की होना कैसा होता है।''[1] परम्परागत मूल्यों के कारण ही स्त्री शोषण एवं उत्पीड़न का शिकार होती है।

लड़कियों में बाल्यकाल से ही यह मूल्य भर दिया जाता है कि ससुराल ही उसका असली घर होता है। उसी के दायरे में रहकर उसे समस्त कर्त्तव्यों का पालन करना है। 'लड़कियाँ' कहानी में लड़कियों की मौसी को ससुराल में तिरस्कृत एवं अपमानित किया जाता है। उसे परिवार में वह सम्मान नहीं दिया जाता जिसकी वह हकदार है। ''कुत्ते जित्ती इज्जत मेरी नहीं उस घर में।' वह माँ के बगल में कहीं कह रही है।.... माँ कह रही है कि जी तो उन सबका कलपता है पर उसे निभाना तो है ही।''[2] सामाजिक मूल्यों का पालन करती स्त्री की स्वतन्त्र सोच मूल्यहीन हो जाती है। विवाह से पूर्व उसे 'पराए घर की अमानत' मानकर पूरे अनुशासन एवं मूल्यों सहित पाला जाता है। विवाहोपरांत वह पराये घर को अपना बनाने के लिए प्रयास करती है। अपना घर समझने के लिए उसे अपना पूरा जीवन होम करना पड़ जाता है। ''स्त्री का न अपना घर है, न परिवार, न नाम है न पहचान, न उसकी कोई जाति है, न धर्म, न उसकी भाषा अपनी है, न भूषा–उसे सब कुछ पुरुष ने ही दिए हैं– अगर वह इस सबको अस्वीकार कर दे तो उसका अपना कहने को कुछ भी नहीं है। 'अपना कुछ न होने' की कचोट उसे संशय लिप्त बनाती है। वह सब कुछ को समेटे रखना चाहती है क्योंकि जानती है कि उसका कुछ नहीं है।''[3] एक विवाहित नारी का अपना अस्तित्व पारिवारिक दायित्वों तले दबकर रह जाता है। वह ससुराल में 'पराये घर की बेटी' बनकर ही रह जाती है। 'रास्तों पर भटकते हुए' उपन्यास की मंजरी संभ्रान्त परिवार की बहू होते हुए भी परिवार में उसकी भूमिका 'बाहरिया' की ही बनी रहती है। वह घर की सदस्य की श्रेणी में भले ही आती है परन्तु उसकी स्थिति एक मूक दर्शक से बढ़कर कुछ नहीं

---

1 पाण्डे, मृणाल, देवी : समयातीत गाथाएँ स्त्रियों की, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–1999, पृ०सं०–40

2 पाण्डे, मृणाल, लड़कियाँ (कहानी–संग्रह : चार दिन की जवानी तेरी), राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–1995, पृ०सं०–16

3 यादव, राजेन्द्र, आदमी की निगाह में औरत, राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–2000, पृ०सं०–254

है। युगों से चले आ रहे पारम्परिक मूल्य पराई बेटी के प्रति दृष्टिकोण सहजता से बदलने नहीं देते।

मंजरी समाज में स्वीकृत रूढ़ मूल्यों को कदापि स्वीकार नहीं करती है। वह मानती है कि इनके कारण ही आधुनिक समाज में रिश्ते–नातों का महत्त्व समाप्त हुआ है। व्यक्ति में प्रेम करने की क्षमता कम हो गई है। अब वह भी प्यार पर विश्वास नहीं करती, ''सभी आज अंकल कहलाते हैं। नई दुनिया नए रिश्ते। ऐसे बनते हैं कोऑपरेटिव! ऐसे बसते हैं लोग–बाग। उनकी नींद में तो कभी–कभार पितर आकर उन्हें याद दिला जाते हैं, तर्पण करने की, पितृदाय की।''[1] मंजरी पुरुष समाज के बदलते चेहरे को बहुत करीब से देखती है। उसका पति, उसका ससुर यहाँ तक कि उसका भाई भी उसके प्रति कठोर व्यवहार का प्रदर्शन करता है। उसका भाई बचपन में अपनी बहन की स्कूल फीस जमा करने के लिए अपनी साइकिल बेच देता है, परंतु आज वह उससे दूरी बनाकर रहता है। मंजरी सामाजिक मूल्यों को नकारकर सत्य के पथ पर अग्रसर होती है, उसका यही आचरण पुरुष के लिए असहनीय बन जाता है। परन्तु इन परिस्थितियों में भी वह स्वयं को बिखरने नहीं देती। शिक्षा तथा आधुनिक स्वतन्त्रता ने उसको जीवन जीने का साहस दिया।

अतः स्त्री तथा पुरुष में भेद समाज निर्मित है। जिसमें हमारे धर्म शास्त्र, लोक धर्म, सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्य, सभी मिलकर उसे स्त्री कहे जाने वाले रूप में ढालते हैं तथा सामाजिक आदर्शों का यह पुरुष–केंद्रित बुनियादी ढाँचा शनैः शनैः उसके जीवन को खोखला बना देता है। नारीवादी लेखिका मृणाल पाण्डे ने विसंगत परम्परागत मूल्यों का प्रत्येक स्तर पर विरोध किया है। उनकी रचनाओं के स्त्री पात्र सर्वप्रथम सामाजिक मूल्यों के भुक्तभोगी बने हैं, पीड़ित हुए हैं तथा इसी पीड़ा के पार्श्व से एक शक्ति का जागरण उनमें हुआ है जो समाज के इन मूल्यों को सिरे से बदल देने की भावनात्मक दृढ़ इच्छा उनमें भर देता है।

---

1 पाण्डे, मृणाल, रास्तों पर भटकते हुए, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–2000, पृ०सं०–13

## 7.5 स्त्रीत्व बनाम मातृत्व

नारी के विभिन्न रूपों में माँ का रूप सर्वाधिक गौरवशाली रहा है। नारी–जीवन की सार्थकता एवं पूर्णता तभी होती है जब वह माँ बनती है। 'उर्वशी' खण्डकाव्य में रामधारी सिंह दिनकर मातृत्व की महिमा का वर्णन करते हुए लिखते हैं–

''माँ बनते ही स्त्रियाँ कहाँ से कहाँ पहुँच जाती हैं,
गलती है हिमशिला सत्य है,
गठन देह की खोकर पर हो जाती है
वह असीम कितनी पयस्विनी होकर।''[1]

कथा–सम्राट् मुंशी प्रेमचन्द ने स्त्री के जननी रूप को श्रेष्ठता प्रदान की है। उनके अनुसार, ''नारी केवल माता है और उसके उपरान्त वह जो कुछ भी है सब मातृत्व का उपक्रम मात्र है। मातृत्व संसार की सबसे बड़ी साधना सबसे बड़ी तपस्या, सबसे बड़ा त्याग और सबसे महान् विजय है। एक शब्द में उसे लय कहूँगा– जीवन का, व्यक्तित्व का और नारीत्व का भी।''[2]

यद्यपि काल–प्रवाह में नारी का गौरव कई बार विषम परिस्थितियों से जूझते हुए घटता–बढ़ता गया परन्तु उसके मातृत्व की गरिमा सदैव अक्षुण्ण बनी रही है। माँ के रूप में एक ओर जहाँ धर्म, त्याग, स्नेह, ममता आदि गुण स्त्री में हैं तो दूसरी ओर माँ के कठोर कर्त्तव्य को वहन करने की क्षमता भी उसमें है। मातृत्व के अन्तर्गत सन्तति का पालन–पोषण प्रेम–भाव से करना, प्रत्येक परिस्थिति में उसकी रक्षा करना आदि सम्मिलित है। महादेवी वर्मा स्त्री के मातृत्व रूप को महत्ता प्रदान करते हुए लिखती हैं, ''स्त्रीत्व की सारी माधुर्यमयी गरिमा ही मातृत्व में केन्द्रित है।''[3]

स्त्री में वात्सल्य की भावना सहज एवं स्वाभाविक है। माँ होने की गुणात्मक क्षमता उसका प्राकृतिक गुण है। वह संतान की धमनियों में रक्त का संचार करती हुई सृष्टि के विकास एवं परिचालन में अहम् भूमिका निभाती है। वास्तव में, स्त्री माँ

---

1 दिनकर, रामधारी सिंह, उर्वशी, उदयाचल प्रकाशन, पटना, सन्–1961, पृ०सं०–18
2 प्रेमचन्द, गोदान, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, सन्–1936, पृ०सं०–167
3 वर्मा, महादेवी, शृंखला की कड़ियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सन्–1941, पृ०सं०–83

के रूप में अपने पूर्ण व्यक्तित्व को खोजती है। सिमोन द बोउवार के अनुसार, ''परम्परा के अनुसार शिशु ही स्त्री को वास्तविक स्वतन्त्रता दे सकता है क्योंकि उसके लालन–पालन में लग जाने पर वह अन्य दायित्वों से मुक्त हो जाती है। पत्नी के रूप में वह पूर्ण व्यक्ति हो या न हो, माँ के रूप में अवश्य है। संतान ही उसका सुख है और वही उसके अस्तित्व को सार्थक करती है।''[1]

हिन्दी साहित्य जगत् में भी महिला लेखन ने नारी के अस्तित्व की सार्थकता उसके मातृत्व में स्वीकार की है। मातृत्व वह भावना है जो स्त्री को पारिवारिक सम्बन्धों के प्रति आस्थावान बनाती है। ''माँ बनकर औरत एक साथ तीनों लोक जी लेती है, बच्चा हो गोद में तो समझो तीनों लोक एक मिश्री के कूजे में।''[2] सुप्रतिष्ठित लेखिका मृणाल पाण्डे ने अपने कथा–साहित्य में नारी के माँ रूप का वर्णन भी बड़ी मार्मिकता के साथ किया है। उनकी अधिकतर कृतियों में माँ की छवि का वर्णन विशेष रूप से दिखाई देता है।

स्नेह एवं वात्सल्य का अंतिम रूप हैं– 'माँ'। मृणाल पाण्डे द्वारा रचित 'देवी : समयातीत गाथाएँ स्त्रियों की' उपन्यास में माँ रूप की व्याख्या अनेक संदर्भों में मिलती है। वास्तव में, देवी–पूजा माँ की शक्ति का ही रूप है। नारी में 'सृजनात्मक' शक्ति का होना, उसका माँ बनना ही उसे दैवीय रूप में स्थापित करता है। देवी–पूजन की परम्परा, मातृसत्तात्मक समाज की देन है। मातृ देवी, लक्ष्मी देवी, सरस्वती देवी एवं दुर्गा, चण्डी ये सब माताएँ हैं। पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था के विस्तार से माँ के रूप जीवन में कम होते गये, केवल पूजन हेतु ही शेष मात्र हैं। अब स्त्री, माँ, घर में कैद होकर गुलाम बनकर अपने सरस्वती, चण्डी रूप से अलग हो गई और अपनी इसी कमी को वह देवी रूप में पाकर पूजन करती है। देवी में स्त्री का वह रूप है जो पितृसत्तात्मक समाज के अनुशासनात्मक रवैये के कारण दब चुका है। फलतः स्त्रियाँ स्वयं को देवी के अधिक करीब पाती हैं। मृणाल पाण्डे उपन्यास की प्रस्तावना में लिखती हैं, ''देवियों से स्त्रियों का रिश्ता कहीं अधिक ऊष्मा–भरी अंतरंगता का रहा है क्योंकि कहीं–न–कहीं देवियाँ औरतों

---

1 बोउवार, दू सिमोन (मूल लेखिका), खेतान, प्रभा (अनुवादक), स्त्री : उपेक्षिता, हिन्द पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, सन्– 2002, पृ०सं०–232

2 सोबती, कृष्णा, ऐ लड़की, राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–1999, पृ०सं०–12

को बहुत सुपरिचित, बहुत विश्वसनीय और अपनी ही सरीखी प्रतीत होती हैं। अपने झनझनाते आक्रोश में, अपनी स्पर्धापूर्ण गुटबाजी में, अपने वैवाहिक जीवन के द्वन्द्वात्मक भावावेश भरे क्षणों में, जो कुछ आम स्त्री में है, देवियों की गाथाओं में भी मौजूद है।''[1] अतः स्त्री अपने दमित अस्तित्व की पूर्ति देवी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व में खोजती है।

लेखिका ने उपन्यास में अनेक पौराणिक कथाओं के माध्यम से यह स्पष्ट किया है कि देवताओं की रक्षा के लिए ही देवी का प्रादुर्भाव हुआ था। वे यह चाहते थे कि अलग–अलग देवियाँ अलग–अलग ढंग से उनके शत्रुओं को पराजित करें, उन्हें नष्ट–भ्रष्ट कर दें। देवतागण विपत्ति के समय अपनी रक्षा के लिए देवी के अवतार के पैरों में गिरकर उससे भीख माँगते हुए युद्ध के लिए तैयार करते हैं, ''माता तू सब पर विजय पाए!..... देवताओं के भेंट किए शस्त्रास्त्रों से लैस हो गई देवी। उसने खेटक, तोमर, परशु, पाश, त्रिशूल और चक्र धार लिये। कुछ आयुध उसने गले में लटका लिये, बाकी अपने अनेक हाथों में थाम लिये, कुछ उसके पृथुल नितंबों पर लटके हैं।... इसके बाद शुरू होता है विकट संहार।.... दैत्य को पैरों से दबाकर खड्ग के एक वार से उसका सिर धड़ से अलग कर देती है। उसकी श्यामल भुजा उठती–गिरती रहती है–रणक्षेत्र में भैंसे के मांसपिंड फैल रहे हैं। मृत्यु–छाया दैत्य की फटी आँखों में उतर आई है। देवी के अट्टहास से रणक्षेत्र गूँज उठता है।''[2] देवी, देवताओं के लिए कभी युद्ध में दानवों को पराजित करती है, तो कभी शुम्भ–निशुम्भ का संहार करती है, कभी वह रौद्र मोहिनी रूप धारण करती है और कभी शैलपुत्री पार्वती बन जाती है, कभी अपने लक्ष्मी रूप से धन–वर्षा करती है, और तो कभी सरस्वती बनकर ज्ञान–गंगा बहा देती है। देवताओं ने देवी का उपयोग केवल अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए किया था। इसीलिए युद्ध समाप्त होने के पश्चात् देवता देवी से प्रार्थना करते हैं कि अब वह अपने धाम वापिस लौट जाए। क्योंकि दैत्यों का संहार करते–करते वह थक गई होगी। आधुनिक समाज में भी साधारण पुरुष इसी परम्परा का अनुसरण कर रहा है। वह भी स्त्री का उपयोग

---

1 पाण्डे मृणाल, देवी : समयातीत गाथाएँ स्त्रियों की, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–1999, पृ०सं०–9, प्रस्तावना से उद्धृत

2 यथावत्, पृ०सं०–37

अपनी हित पूर्ति के लिए ही करता है क्योंकि धर्म भी समाज का प्रतिबिम्ब है। लेखिका ने आधुनिक संदर्भ में इस कथा के साथ ललिता मौसी का प्रकरण जोड़ा है। ललिता मौसी अपना संपूर्ण जीवन परिवार को बांधने तथा संपूर्ण दायित्वों के निर्वाह में व्यतीत कर देती है। परंतु उम्र ढलने के पश्चात् वह घर में फालतू हो जाती है। परिवारजन उसे घूर–घूर कर देखते हैं। ललिता मौसी अपने घर की पूर्णसत्ता बेटे–बहुओं के हाथ में सौंपकर, स्वयं के अस्तित्व में खालीपन के अनुभव से उत्पन्न क्रोध को, परिवारजनों पर दर्शाती है।

उपन्यास में मृणाल पाण्डे ने पात्र बीजी तथा शोम्पा के उस मातृत्व को भी अंकित किया है, जिन्होंने संघर्षशील स्थितियों में रहकर अपनी संतान के भरण–पोषण में कोई कमी नहीं रखकर, उन्हें समुन्नत जीवन प्रदान किया। 'बीजी' पंजाब के दंगों से भागकर अपने बेटों के साथ पहाड़ी क्षेत्र में आकर बस गई थी। उसने अपने गहने बेचकर अपने बेटों को पढ़ाया। उन्हें कारोबार में लगाकर आत्मनिर्भर बनाया। उनके बेटे भी स्वीकारते हैं कि उनका सब कुछ बर्बाद हो गया था, फिर भी उनकी माँ ने उन्हें अच्छे स्कूलों में भेजा। दूसरी ओर शोम्पा सुसराल पक्ष द्वारा ठुकरा दिये जाने पर अपनी बेटी का पालन–पोषण करने तथा उसके विवाह के लिए दहेज इक्ट्ठा करने के लिए देह–व्यापार में लग जाती है। शोम्पा की समर्पणशीलता एवं त्याग की भावना बेटी के जीवन को सुखमय बनाने में है। पुरुष समाज द्वारा कुचले जाने पर भी शोम्पा का ममतामयी माँ का हृदय कठोर परिस्थितियों में भी कठोर नहीं होता बल्कि मातृत्व ने उसे जीवन जीने का लक्ष्य और शक्ति प्रदान कर दी। प्रत्येक परिस्थिति में माँ के रूप में एक स्त्री वास्तव में अद्वितीय पायी गई है। ममतामयी वात्सल्य से परिपूर्ण माँ का रूप एक पुरुष अपनाने में असमर्थ है।

'रास्तों पर भटकते हुए' उपन्यास में अपनी छोटी उम्र के बच्चे बंटी की मृत्यु के कारण उसकी माँ पार्वती पथरा–सी जाती है। वह अपनी सुध–बुध खो बैठती है। उसकी ऐसी दशा देखकर एक बूढ़ी औरत अपनी संवेदना इन शब्दों में अभिव्यक्त करती है, "यम की देहरी पर खड़ी है पार्वती! एक मूक, अन्धी माँ! किससे माँगेगी

वह एक बच्चे के पाप–पुण्य का हिसाब?"[1] बंटी की मृत्यु के पश्चात् पार्वती को अपना जीवन निरर्थक प्रतीत होता है। क्योंकि देह–व्यापार के नारकीय जीवन को भोगने के पीछे का सत्य केवल बंटी का पालन–पोषण ही था। उसके द्वारा कमाया गया सारा धन, जमा पूँजी, बॉण्ड–स्टॉक, जेवरात सब उसे व्यर्थ प्रतीत हो रहे हैं। क्योंकि उसका वास्तविक धन उसकी संतान थी। बंटी ही उसकी खुशी का केन्द्र था। मंजरी भी बंटी से प्रेम करती थी। मंजरी के अपार वात्सल्य का ही परिणाम था कि वह अपनी संपूर्ण स्त्री–शक्ति को समेटकर बंटी के हत्यारों को सजा दिलवाने का साहस दिखा पाती है। वास्तव में, इतना बड़ा खतरा एक माँ ही उठा सकती है।

मंजरी की माँ भी एक ममतामयी माँ की प्रतिमूर्ति है। उसका इकलौता बेटा धनवान बनने पर अलग होकर रहता है। परन्तु माँ को अपने बेटे से कोई शिकायत नहीं है। वह कभी भी पड़ोसियों एवं परिचितों के समक्ष उसकी कोई बुराई नहीं करती। वह मंजरी को भी अपना भविष्य संवारने के लिए समझाती रहती है ताकि बेटी का भावनात्मक और आर्थिक आधार बन सके, ''अरे मैं मूर्ख हूँ, तभी तो तुझसे वह सब कह रही हूँ, ताकि तू भी मेरी तरह कष्ट नहीं झेले। तेरा घर उजड़ा, तब मैं चुप रही। दूध की मक्खी की तरह तेरे उन सास–ससुर ने तुझे अलग कर दिया जो यहाँ हमारी दहलीज पर नाक रगड़कर तेरा रिश्ता ले गए। मैं चुप रही। सिर्फ इसलिए कि तब तूने कहा था कि कुछ मत कह। मैं हजार बात कह सकती थी, पर तेरा मुँह देखकर गम खा गई। फिर तूने नौकरी की, छोड़ी, फिर की, फिर छोड़ी। तब भी मैं तेरे साथ खड़ी रही कि ठीक है। पर कहीं भी कोई धुरी तो बनानी चाहिए ही न?''[2] स्पष्टतः मंजरी की माँ ने अपनी बेटी की खुशी के लिए समाज की जवाबदेही की परवाह भी नहीं की, वह सदैव उसके साथ खड़ी रही।

प्रस्तुत उपन्यास में पार्वती, मंजरी तथा उसकी माँ सभी अकेले अपने स्वाभिमान के साथ जी रहे हैं। उन्हें पुरुष का साथ न मिलने पर भी कमजोरी का अनुभव नहीं होता। उनके मातृत्व में कहीं भी कोई अंतर नहीं आता। हाँ, यह अवश्य है कि किन्हीं विकट स्थितियों में उनकी ममता उन्हें मार्ग परिवर्तन को विवश कर

---

1 पाण्डे, मृणाल, रास्तों पर भटकते हुए, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–2000, पृ०सं०–16
2 यथावत्, पृ०सं०–50

देती है। यही कारण है कि पार्वती को दुःखी होकर मरना पड़ा तथा मंजरी को उन रास्तों पर चलना पड़ा जहाँ उसने पलट कर देखने का भी नहीं सोचा था।

मृणाल पाण्डे ने अपनी कृतियों में माँ का विराट् रूप प्रस्तुत किया है। उन्होंने माँ के चरित्र को अपनी संतान के लिए सबसे बड़ी संरक्षिका के रूप में चित्रित किया है। 'अपनी गवाही' उपन्यास में पत्रकार कृष्णा की माँ विधवा है। वह एक धैर्यवान स्त्री है। अपने कष्टाकारी जीवन में भी वह डगमगाती नहीं है बल्कि वह अपने बच्चों के लिए सदैव विचारशील एवं प्रेरणामयी रही। कृष्णा अपनी माँ के संतान विषयक दृष्टिकोण एवं चिंता को बहुत नज़दीक से अनुभव करती है, ''कई बार वह पाती थी कि माँ उसे एकटक निहार रही है। वह सोचती होगी कि कृष्णा अभी अपने खयालों में गुम होगी, लेकिन कृष्णा को लगा कि माँ की टकटकी के पीछे यह चिन्ता छिपी थी कि उसकी यह धूमकेतु सी पगली बेटी पता नहीं कब क्या करने लगे। उसे लगता था कि कहीं वह कलम ही न पकड़ ले क्योंकि तब अपनी कलम से वह जो कुछ उगलेगी वह तूफान ही खड़ा करेगा।''[1] पार्वती ने सदैव अपने बच्चों को चुनौतियों से सामना करने में सक्षम बनाया है, नकारात्मक विचारों को दूर कर उनमें सकारात्मक पुट समाहित किया है। पार्वती के विषय में मृणाल पाण्डे लिखती हैं, ''पार्वती ने अपने बिन पिता के बच्चों को दो बातें सिखाई थीं—अपने को सताने वालों के सामने यह न जाहिर होने दो कि तुम भी हमला कर सकते हो और किसी भी आदमी को एक दन्तकथा मत बनाओ। वह कहा करती थी, 'भले दन्तकथा के पात्र वास्तविकता से बड़े लगें और कुछ समय के लिए उनकी जरूरत भी लगे, पर कुल मिलाकर उनका वजूद दुःखद होता है। अपना नुकसान बचाओ और फिर उसकी परवाह न करते हुए आगे बढ़ जाओ। आत्मदया में ही न पड़े रहो वर्ना तुम खुद एक और दन्तकथा बन जाओगे।''[2] अतः पार्वती अपने ममत्व द्वारा बच्चों को जीवन की सत्यता से अवगत कराती है, उनका मार्गदर्शन करती है।

लेखिका की 'गर्मियाँ' कहानी में भी कथानायिका की माँ के वात्सल्य की भावना अपनी बेटी के भविष्य की चिन्ता में दृष्टिगोचर होती है। वह उसे

---

1 पाण्डे, मृणाल, अपनी गवाही, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्—2003, पृ० सं०—19

2 यथावत्, पृ०सं०—75

कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य का ज्ञान देती है। उसे अपने आँचल की छाँव में सहारा देती है। कथानायिका अपनी माँ के ममता रूप को इन शब्दों में व्यक्त करती है, ''माँ ने तुम्हें नंगा जना है, माँ ने तुमसे भी पहले तुम्हारे शरीर का हर भाग छुआ है। उसकी धुँधली पड़ती आँखें तुम्हारी लकदक डिग्रियों और मोटी तनख्वाह की नौकरी से कतई धोखा नहीं खातीं, 'यह तेरा अकेला रिक्शे से जाना मुझे ठीक नहीं लगता। जमाना खराब है, लोगों का कोई भरोसा नहीं रहा। पिछले ही साल फलाँ की लड़की को गुंडे उठा ले गये। छै–छै ने मुँह काला किया। बेचारी कहीं की न रही। कैसा तो मुँह सूख गया है धूप में जा–जाकर।'.... बसों में टटोलते शोहदे हाथ, नुक्कड़ की आमंत्रण–भरी सीटियाँ, लंबी सूनी सड़कों का दहशत–भरा फैलाव, वह सब, जो हर कम–उम्र हिंदुस्तानी लड़की को बाहर की दुनिया से काटकर घर की ठंडी हरी गहराइयों में माँ की गोदी में ला छिपाता है– तर्क से परे, इच्छा से परे, विवेक के परे, वहाँ जहाँ सिर्फ एक अनंत क्षमा का उजाड़–फैलाव है।''[1]

माँ बाल्यकाल से ही अपनी संतान को ऐसी शिक्षा देती है कि वह व्यस्क होकर अपने जीवन को सफल बना सके। वह अपना सुख त्यागकर संतान के भविष्य को संवारती है। यदि संतान भूलवश, चारित्रिक त्रुटि से अथवा परिस्थितियों के योग से विपत्ति में फँस जाती है तो माँ उसे अवश्य ही शरण और संरक्षण देती है भले शेष जन उससे रुष्ट हो जाएँ। माँ का हृदय विशाल है। विधाता ने नारी–हृदय में इतना त्याग भरा है कि उसकी थाह लगाना कठिन कार्य है। माँ अपने बच्चों की रक्षा के लिए सर्वस्व न्योछावर कर देती है।

देशकाल परिस्थिति ने स्त्री के मातृत्व प्रेम को भी अनुशासित करने का प्रयास किया है। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री द्वारा बेटी की तुलना में बेटे के जन्म देने पर उसे भाग्यशाली माना जाता है। परन्तु आज परिस्थितियों के बदलाव से माँ अपनी बेटी के जन्म पर शोक नहीं मनाती, उसे अपना दुर्भाग्य नहीं मानती अपितु वह अपनी बेटी के प्रति अपार प्रेम, वात्सल्य को प्रकट कर रही है। आज स्त्री अपनी परम्परा अपनी बेटी के माध्यम से शाश्वत् बना पा रही है। अतः वह आगामी

---

1 पाण्डे, मृणाल, गर्मियाँ (कहानी–संग्रह : यानी कि एक बात थी), राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–1990, पृ०सं०–213

पीढ़ी को अपनी शक्ति प्रदान कर भी रही है और उससे अपने लिए शक्ति खींच भी रही है। इस संदर्भ में रेखा कस्तवार का मत दृष्टव्य है, ''अपनी समरूपा उत्पन्न करना माँ के लिए बड़ा महत्त्वकारी है। पुण्य है। बेटी पैदा होते ही माँ सदाजीवा हो जाती है। वह कभी नहीं मरती। हो उठती है वह निरन्तरा। वह आज है कल भी रहेगी। माँ से बेटी तक, बेटी से उसकी बेटी से भी अगली बेटी। अगली से भी अगली। वही सृष्टि का स्त्रोत् है।''[1] अतः बेटी माँ का विस्तार है, उसे चिरजीवी बनाती है। मृणाल पाण्डे की कहानी 'रिक्ति' ऐसा ही उदाहरण प्रस्तुत करती है। नायिका सुलभा की माँ ने जो गुण, संस्कार अपनी माँ से सीखे वही वह आगे सुलभा को हस्तांतरित करती है। कहानी में सुलभा, उसकी माँ तथा नानी, तीनों पीढ़ियों में अपार स्नेह एवं समर्पण की भावना है। जब सुलभा की नानी अपने जीवन के अंतिम समय में बीमार थी तब सुलभा की माँ ने उसकी नानी की सेवा तथा देखभाल एक पुत्र से बढ़कर की। सुलभा के शब्दों में, ''माँ ने अपना मंगलसूत्र बेचकर गोदान तक करवा दिया था। 'अरे मंगलसूत्र भी तो नानी का ही दिया था न, और मेरे नसीब फूटने के बाद पड़ा ही तो था डब्बे में, कौन मेरा अपना था?' माँ कहती.... 'माँ तू किसी भी चीज को अपनी समझने से क्यों डरती है?' सुलभा ने एक बार पूछा था। 'डर? दुत् पगली, डर मुझे कभी नहीं लगता', माँ ने कहा था– 'रही बात अपने–पराये की, सो छाती में धर के थोड़े ही ले जाना है कुछ भी? हाँ, अंतिम काज के लायक छोड़ जाऊँगी जरूर। मैं किसी पर बोझ क्यों बनूँ?' 'मैं नहीं रहूँगी तब समझोगी,' माँ कहती है। 'मैं नहीं रहूँगी तब समझोगी,' नानी ने माँ से कहा था।''[2] अतः स्त्री का वात्सल्य एवं मातृत्व पीढ़ी–दर–पीढ़ी माँ से बेटी तथा बेटी से माँ तक की यात्रा तय कर एक धरोहर के रूप में जीवित रहता है।

प्रो० नीरजा सूद ने अपने आलेख 'स्त्रीत्व से मातृत्व तक की यात्रा : 'आपका बंटी' में लिखा है, ''स्त्री के जीवन में स्त्रीत्व और मातृत्व दो अभिन्न अविरोधी और अविभाज्य महत्त्वपूर्ण अनुभव हैं। संवेदनात्मक स्तर पर उनकी अनुभूति भी केवल

---

1 कस्तवार, रेखा, स्त्री चिन्तन की चुनौतियाँ, राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–2006, पृ०सं०–170

2 पाण्डे, मृणाल, रिक्ति (कहानी–संग्रह : बचुली चौकीदारिन की कढ़ी), राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा०लि०, नई दिल्ली, सन्–1990, पृ०सं० –178

उसे ही होगी। स्त्री के अस्तित्व की सार्थकता उसके मातृत्व में स्वीकार करने की दीर्घ परम्परा रही है। इसी अनिर्वचनीय आनन्द की व्याख्या साहित्यकारों ने भी प्रस्तुत की है। मातृत्व के प्रति अनुराग और समर्पण उसे परिवार के प्रति आस्थावान बनाता है और उसके सम्बन्धों को विस्तार देता है। सन्तान के प्रति कर्त्तव्य उसे पुरुष की तुलना में अधिक उदार, सहिष्णु और धैर्यवान बनाता है। ममता का यह रूप जीवन को नूतनता और नैरन्तर्य प्रदान करता है।''[1]

निःसन्देह माँ जननी रूप में स्वर्ग से भी महान् है। मृणाल पाण्डे ने अपनी रचनाओं में ऐसी वात्सल्यपूर्ण एवं ममतामयी माँ की उस प्रतिमूर्ति को चित्रित किया है जो उसकी स्वयं की माँ शिवानी की भाँति हो। जिसने अपने बच्चों को कठिन परिस्थितियों एवं संकटों में भी अदम्य साहस प्रदान कर सदैव उनका मार्ग प्रशस्त किया है, इसीलिए वें जीवन में उच्च मुकाम अपने बल पर प्राप्त कर सके।

## 7.6 शक्ति एवं ऊर्जा का रूप नारी

सृष्टि की अप्रतिम इकाई नारी है तथा नारी है–स्वयं सृष्टि। वह मानव–सृष्टि की हेतु है। वह विराट् स्वरूपा है, उसी की स्मित् से सभ्यता फली–फूली है। ''वह 'शक्ति' है..... संपूर्ण शक्ति। शक्ति का प्रचण्ड रूप है वह। शक्ति का कोमल रूप है वह। वह सँवरना जानती है तो रौंदना भी जानती है। शक्ति के समस्त रूप उसी से प्रारम्भ होते हैं, उसी में विलीन हो जाते हैं। वह शक्ति का स्त्रोत् है....अजस्त्र स्त्रोत्.. .. मूल स्त्रोत् यानी उद्गम। सारी की सारी ईश्वरीय शक्तियाँ, मानवीय शक्तियाँ, दैवीय शक्तियाँ, आर्ष शक्तियाँ, अतंतोगत्वा उसी में समाहित हो जाती हैं। यही उनकी नियति है।''[2] स्त्री समुद्र की भाँति है, उसका व्यक्तित्व अनन्त, असीम और अपरिमेय है तथा अपरिहार्य भी। संसार से सम्बद्ध सभी बंधन उसी के गर्भ से उपजते हैं तथा उसी में ही समा जाते हैं।

स्त्री शक्ति का प्रतीक मानी गयी है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के मतानुसार, ''परम शिव से दो तत्त्व एक साथ प्रकट हुए थे–'शिव' और 'शक्ति'।

---

1 उद्धृत, वशिष्ठ, सरिता (संपा०), संभावना (पत्रिका), स्वर्ण जयन्ती विशेषांक, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, सन्–2013, प्रथम अंक, पृ०सं०–34

2 धर्मपाल, दिनेश, स्त्री, भावना प्रकाशन, दिल्ली, सन्–2007, पृ० सं०–17

शिव विधि रूप है और शक्ति निषेध रूपा। इन्हीं दो तत्त्वों के प्रस्पन्दन–निस्पन्दन से यह संसार आभासित हो रहा है। पिंड में शिव का प्राधान्य ही पुरुष है और शक्ति का प्राधान्य नारी है।... जहाँ कहीं दुःख–सुख की लाख–लाख धाराओं में अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़कर दूसरे को तृप्त करने की भावना प्रबल है, वहीं नारी तत्त्व है, या शास्त्रीय भाषा में कहना हो तो 'शक्ति–तत्त्व' है।''[1]

महिला रचनाकार मृणाल पाण्डे स्त्री को शक्ति एवं ऊर्जा का पुंज मानती हैं, जिसका उद्घाटन उनके लेखन में हुआ है। वे एक प्रगतिवादी लेखिका के रूप में जानी जाती हैं। सुधीर पचौरी के अनुसार, ''मृणाल पाण्डे नारीवाद को लेकर बहुत गम्भीर हैं। नारीवाद उसके लिए फैशन नहीं, न पश्चिमी है, न पूर्वी, वह ठोस स्त्री हकीकत का बयान है।''[2] लेखिका की कहानियों की अपेक्षा उपन्यासों में स्त्री शक्ति का स्वरूप अधिक मुखर हुआ है।

'देवी : समयातीत गाथाएँ स्त्रियों की' उपन्यास स्त्री–शक्ति का महाआख्यान है। जिसमें पौराणिक कथाओं की चर्चा द्वारा स्त्री–शक्ति को वर्णित किया गया है। दैवीय–शक्ति के विषय में लेखिका का मत है, ''ये वे तमाम स्त्री–शक्तियाँ हैं जिन्हें देवता भी नियंत्रित करने में असमर्थ हैं। अपनी बुद्धि, वाक्चातुर्य और स्वाश्रयी कर्मठता से इन देवियों ने दुनिया–भर की स्त्रियों के लिए युग–युगों से भावनाओं के जटिल स्वर–मंडल को अपने सभी वादी–विवादी और अनुवादी स्वरों के साथ प्रस्तुत कर रखा है। इन्हीं का प्रताप है कि हर तरह की भवबाधा और नकारात्मक दबावों के बावजूद युग–युगों से पूरी स्त्री–जाति जीवन की जटिलताओं से सफलतापूर्वक जूझ पाई है।''[3]

भारतीय संस्कृति में तीन आदर्श देवियाँ हैं, महालक्ष्मी, महाकाली एवं महासरस्वती। ये देवियाँ राजसी, तामसी और सात्विकी शक्तियों की प्रतीक हैं। विष्णु

---

1 द्विवेदी, हजारी प्रसाद, बाणभट्ट की आत्मकथा, राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, नौवीं आवृत्ति–सन् 2003, पृ० सं०–120

2 उद्धृत, त्यागी, मुक्ता (डॉ०), समकालीन महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में नारी–विमर्श, अमन प्रकाशन, कानपुर, सन्–2012, पृ० सं०–120

3 पाण्डे, मृणाल, देवी : समयातीत गाथाएँ स्त्रियों की, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–1999, पृ० सं०–XVI, प्रस्तावना से उद्धृत

में राजसी शक्ति, शिव में तामसी शक्ति एवं सात्विकी शक्ति का सम्बन्ध ब्रह्मा से है। देवी को पराशक्ति भी कहा जाता है। 'देवी भागवत्' में उल्लेखित है कि, ''शक्ति अखिल ब्रह्माण्ड से परे है। उनके अखिल प्रभाव को न तो ब्रह्मा और न ही शिव व हरि ही जान सके हैं। शक्ति को आदि व अनन्त माना गया है। वस्तुतः ये स्त्री देवी के ही अंश हैं। ये पूजनीय हैं, आदरणीय हैं व वन्दनीय हैं, सर्वशक्तिमान हैं। इनके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता अर्थात् देवी विषय से परे है। ये वेदान्त–प्रतिपाद्य की जन्मार्त्री व ब्रह्मरूपिणी परमात्मा है। उनके पादपंकज की रज को पाकर ब्रह्मा विश्व का सृजन करते हैं, विष्णु पालन करते हैं और शिव रुद्र रूप धारण कर संहार करते हैं।''[1] देवी भागवत् में देवी के प्रति इस तरह के उद्गार एवं भावनाओं का प्रगटीकरण उनमें ईश्वर की सर्वोच्च सत्ता का केन्द्र होने को प्रामाणित करता है।

''यह सच है कि वैसे स्त्रियाँ युद्ध पसन्द नहीं करतीं लेकिन जब कभी वे हथियार उठा लें तो असली योद्धा बन जाती हैं। काली की तरह। वह जानती है युद्ध क्या हैं। वह पीछे हटती भी है तो फिर–फिर लौटने के लिए, चतुर महारथी की तरह।''[2] मृणाल पाण्डे ने 'देवी' उपन्यास में ऐसी अनेक घटनाएँ वर्णित की हैं जिनसे स्त्री–शक्ति का आभास होता है। जिनमें से, सन् 1995 की एक घटना, के० पी० वल्सला कुमारी की है। वह केरल के अद्यापन मंदिर में प्रवेश के लिए कानूनी लड़ाई लड़ती है क्योंकि उसमें दस से पचास वर्ष की स्त्रियों का जाना मना है। वह यह लड़ाई जीत जाती है। के० पी० वल्सला कुमारी को मंदिर में प्रवेश की अनुमति इसलिए प्राप्त हुई क्योंकि वह एक प्रशासनिक अधिकारी थी। इसलिए वह मंदिर में आने वाली दर्शनार्थियों की भीड़ की सुविधाओं का प्रबंध वहाँ मौजूद रह कर, कर सकती थी। अतः पुरुषों द्वारा किये जाने वाले धार्मिक भेदभाव के विरुद्ध यह एक छोटा–सा कदम था।

---

1 उद्धृत, गुप्त, सरोज कुमार, भारतीय नारी कल, आज और कल, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, सन्–2007, पृ०सं०–113

2 पाण्डे, मृणाल, देवी : समयातीत गाथाएँ स्त्रियों की, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–1999, पृ०सं०–51

स्त्रियों को मात्र वासना पूर्ति की वस्तु मानकर उन पर अत्याचार, व्यभिचार करने वाली पुरुष मानसिकता के विरुद्ध स्त्री शक्ति का रूप लेखिका ने 'कटोरी देवी' नामक महिला का उदाहरण देकर भी प्रस्तुत किया है। सन् 1970 में कटोरी देवी का तबादला गलत ढंग से मथुरा के उस स्कूल से कर दिया जाता है जिसमें वह प्रिंसिपल थी। उसने इसका विरोध किया। 1981 में कटोरी के घर में रहने वाले किरायेदार ने उस पर हमला किया और पुलिस ने कटोरी को गिरफ्तार कर उसके साथ मार–पीट कर, बलात्कार का भी प्रयास किया। यह उसके लिए असहनीय हो गया। उसकी नौकरी भी छूट गयी। ''अपनी नौकरी और पुलिस पर विश्वास खो देने के बाद कटोरी देवी ने तब तक विधानसभा के सामने धरने पर बैठने का फैसला किया जब तक कि उन्हें न्याय और दोषियों को सजा नहीं मिल जाती। आख़िर चौदह बरस बाद एक ऐसा आम चुनाव सिर पर आ खड़ा हुआ जिसमें औरतों के वोट बैंक का बहुत शोर था और तब राज्य सरकार का ध्यान कटोरी देवी की तरफ़ गया। 1996 की फरवरी के अंत में राज्य सरकार ने 1981 से उनकी नौकरी बहाल मानी, उनकी सेवा की अवधि दो साल बढ़ा दी गई, उनकी सीनियॅरिटी बरकरार रखी गई। अमूमन स्वतन्त्रता सेनानियों को दिया जाने वाला मुफ्त बस पास उन्हें दिया गया और सवा तीन लाख रुपए हर्जाने के तौर पर दिए गए। उनसे मारपीट करने वाले पुलिसकर्मियों के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्रवाई की भी ताकीद की गई।''[1] अतः कटोरी देवी को प्राप्त न्याय उसकी रौद्र शक्ति का प्रतीक है।

मृणाल पाण्डे ने स्त्री–शक्ति का साक्षात् रूप भँवरी बाई के रूप में भी देखा है। राजस्थान की भँवरी बाई द्वारा बाल–विवाह रोकने के प्रयास के विरुद्ध पुरुष सामन्ती समाज ने उसे दबाने के लिए उसके साथ सामूहिक बलात्कार किया। उसे जाति–बिरादरी से निष्काषित किया गया। पुरुषों के इस विरोध की प्रताड़ना से भँवरी डरी नहीं बल्कि शक्ति का रूप बनकर आक्रमण किया। वह राज्य के उच्च

1 पाण्डे, मृणाल, देवी : समयातीत गाथाएँ स्त्रियों की, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–1999, पृ० सं०–169

न्यायालय तक पहुँची। अनेक गिरफ्तारियाँ हुईं, भँवरी की कहानी चारों ओर फैल गई। उसे वीरता पुरस्कार के साथ कई पुरस्कार प्राप्त हुए। उसकी बिरादरी के लोग उससे मिलने–जुलने लगे। भँवरी बाई ने आगे भी पितृसत्तात्मक समाज के प्रत्येक आक्रमण का डटकर मुकाबला किया। मृणाल पाण्डे ने उसकी द्रौपदी के साथ साम्यता स्थापित की है। क्योंकि द्रौपदी ने भी अपनी यौन–प्रताड़ना तथा अपमान का प्रतिशोध केश खोलकर अपने पतियों द्वारा लिया। और, भँवरी बाई ने द्रौपदी के रूप में पुरुष सामन्ती समाज से अपने बलात्कार का बदला महिला सहयोगियों के साथ मिलकर लिया।

अतः महिला की अपनी आत्मशक्ति उसे साधारण से विशेष बना देती है। उपन्यास में ललिता मौसी अर्थात् बड़ी अम्मा अपने दादा के प्रभाव से विदुषी महिला बन जाती है। उसका पिता उसके इस रूप को देखकर अचंभित हो उठता है, ''उन्होंने तो कभी नहीं सोचा था कि एक औरत भी इतना देख और समझ सकती है।''[1] ललिता मौसी के ज्ञानी रूप में सरस्वती के दर्शन प्राप्त होते हैं।

मृणाल पाण्डे ने अपने लेखन द्वारा यह दर्शाया है कि महिला की संवेदनशीलता, उसका निश्चय, उसकी अदम्य क्षमताएँ, उसकी शक्ति ही है इसीलिए उसका संसार अपूर्व है। इसी अपूर्व संसार की स्त्रियों में 'रास्तों पर भटकते हुए' उपन्यास की मंजरी और उसकी माँ भी हैं। मंजरी की माँ उम्र के आखिरी पड़ाव में भी किसी पर बोझ नहीं बनना चाहती। वह एकाकी रहकर अपना जीवन–यापन कर रही है। उसका जीवन बेहद सादा है। मंजरी के शब्दानुसार, ''अपनी चार–छह सूती साड़ियों पर भी माँ ने चश्मा लगाकर थकी उँगलियों से फॉल टाँके हैं। 'मुझे अच्छा नहीं लगता ध्यान जैसे, दिखाकर अपने लोगों की 'शिबौ–शिबौ बटोरना'– वह बार–बार कहती है। माँ के बरतन–कपड़े, कप–प्लेट, सब बरसों पुराने हैं फिर भी वे सफाई से धोए और फिर यथास्थान सजाए जाते हैं। कोई घर में आता है, तो चाय की ट्रे में ट्रे–क्लॉथ और केतली पर धुली टी–कोजी लगाए बिना वहाँ चाय नहीं

---

1 पाण्डे, मृणाल, देवी : समयातीत गाथाएँ स्त्रियों की, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–1999, पृ० सं०–77

परसी जाती।''[1] जर्जर बुढ़ापे में भी मंजरी की माँ अपने जीवन को आत्म–सम्मान के साथ जी रही है, यह उसकी शारीरिक एवं मानसिक शक्ति का प्रतीक है।

मंजरी स्वयं एक दृढ़निश्चयी औरत है। वह साहस के साथ भ्रष्ट व्यवस्था से टकराती है। उसे जान से मार देने की धमकियाँ मिलनें लगती हैं क्योंकि वह सफेदपोश लोगों के राज़ जान जाती है। वह अंत तक अडिग रहकर बंटी के हत्यारों तक पहुँच जाती है। वह स्पष्टतः कहती है कि उसकी नीयत साफ है इसलिए वह नहीं डरेगी। मंजरी पूर्णतः शक्ति की प्रतीक है वह एक सफल पत्रकार भी थी। उसने वहाँ भी निर्भीकता के साथ कार्य किया तथा उस कर्मक्षेत्र में भी उसने अपनी गहरी पैठ बना ली थी। वह अपने पत्रकारिता के सफर को इन शब्दों में व्यक्त करती है, ''एक जमाने में महिलाओं के खिलाफ बढ़ते अपराधों और विज्ञापनों में महिलाओं की विकृत छवि का विरोध करते कुछ नेतानुमा उच्चाधिकारियों ने प्रचार–माध्यमों में स्त्रियों की सही छवि प्रस्तुत करने को युवा पत्रकारों और समाजसेवियों का एक निगरानी प्रकोष्ठ बनाया था। उसकी एक सदस्य मैं भी थी।''[2] अतः मंजरी ने अपने कार्यक्षेत्र में भी शक्ति, ऊर्जा एवं कर्त्तव्य परायणता का परिचय दिया है।

स्त्री कोमलांगी अवश्य है परन्तु कमजोर नहीं है। वह वज्र के समान कठोर है, अपराजेय योद्धा है। सृष्टि के आरम्भ से लेकर विकास के चरमोत्कर्ष तक वह स्वयं को स्थापित करने की महायात्रा कर रही है। पूर्व हो या पश्चिम, उत्तर अथवा दक्षिण, देश एवं विदेश में वह पुरुष प्रधान समाज के सींखचों को तोड़कर अपनी शक्ति एवं ऊर्जा का लोहा मनवा रही है। नारी–शक्ति की पहचान नवीन विचारों में समादृत है। 'अपनी गवाही' उपन्यास की कृष्णा अपनी ऊर्जा के बल पर पत्रकारिता के व्यवसाय में प्रवेश कर जाती है। पत्रकार बनने के विचार से उसकी माँ पार्वती घबरा जाती है क्योंकि इसमें महिलाओं को सम्मानजनक दृष्टि से नहीं देखा जाता। दोनों, माँ–बेटी में इस विषय पर वार्तालाप होता है। पार्वती कृष्णा को समझाती है,

---

1 पाण्डे, मृणाल, रास्तों पर भटकते हुए, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन् 2000, पृ० सं०–44

2 यथावत्, पृ०सं०–132

''तुझे बड़ी देर–देर तक काम करना होगा? पोलिटिकल प्रेशर होंगे? थानों और दंगाग्रस्त इलाकों के चक्कर लगाने होंगे? उससे क्या होगा? क्या तू यह सब झेल सकेगी? क्या तू यह सब करना चाहती है? राजनेताओं की संगति में ज्यादा दिखने वाली औरतों को मर्द आदर के साथ नहीं देखते।''[1] कृष्णा पलटकर अपनी माँ को उत्तर देती है, ''आदर–वादर नहीं, सालों को अपनी मर्दानगी को खतरा लगता है।''[2] कृष्णा द्वारा अपनी माँ की बातों का दिया गया यह जवाब उसकी उस बेबाकी को प्रामाणित करता है, जिसमें शक्ति का रूप है, संकटों का सामना एवं स्वयं को स्थापित करने की अपार ऊर्जा है।

इस प्रकार लेखिका ने अपनी कृतियों में स्त्री–शक्ति के सभी रूप वर्णित किये हैं। उन्होंने यह भी आह्वान किया है कि जब तक नारी ही नारी की सहयोगी नहीं बनेगी तब तक शक्ति का पूर्ण उपयोग नहीं हो सकेगा। मृणाल पाण्डे के शब्दों में, ''भई, मैं बराबरी की कायल तो हूँ, पर फेमिनिस्ट नहीं!' अपने वर्ग की स्थिति को लेकर हिक़ारत या शर्म का यह भाव और उसकी पराधीनता की वजह सामाजिक असंतुलन की बजाय खुद उस वर्ग की मूर्खता या अनिच्छा मानना स्त्रियों की ही नहीं, हर दबी हुई पराधीन जाति के सदस्यों की मानसिकता होती है।''[3] लेखिका ने स्त्री–वर्ग को एकजुट रहने का आह्वान इसलिए किया है ताकि उनकी शक्ति के समक्ष कोई उन्हें शोषित एवं प्रताड़ित न कर सके।

## निष्कर्ष

मृणाल पाण्डे का स्त्री–विषयक चिन्तन काल की सीमाओं से मुक्त है। उनके विचारों में यह ध्वनित होता है कि स्त्री चाहे आधुनिक दौर की है अथवा पौराणिक, विड़म्बनाएँ दोनों के समक्ष ही रहीं हैं। स्त्री–पीड़ा के स्वर सभी समाजों में रहे हैं। यह अलग बात है कि पुरुष–प्रधान समाज में कभी भी सुनवाई नहीं हुई। परिणामस्वरूप स्त्री की स्थिति हाशियाग्रस्त रही। स्त्रियों की इसी दशा को समझकर

---

1 पाण्डे, मृणाल, अपनी गवाही, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–2003, पृ०सं०–19

2 यथावत्, पृ०सं०–19

3 पाण्डे, मृणाल, स्त्री : देह की राजनीति से देश की राजनीति तक, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन्–1987, पृ० सं०–1

उन्होंने अपनी रचनाओं में उन्हें समाज की महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक धुरी के रूप में प्रस्तुत किया है। उनके महिला–पात्रों की उलझन, पीड़ा, भटकाव और घुटन तथा इसके पश्चात् उठने वाले विद्रोह के स्वर समष्टिगत हैं। उनके स्त्री पात्र यही संदेश प्रेषित करते हैं कि समाज में व्याप्त असंतुलन के विरुद्ध बदलाव 'होता' नहीं है बल्कि 'लाया' जाता है। लेखिका ने समाज में उत्तरोत्तर हुआ परिवर्तन स्त्री–स्वातन्त्र्य के पक्ष में माना है।

*-*-*-*-*